सरस्वती सिरीज़

रांगेय राघव

मशीन के पुर्ज़े



आठ आना

सरस्वती-सिरीज़ नं० ४६

मशीन के पुर्ज़े

Machine Ke Purze

सर्वदानंद वर्मा

Sarvadanand Verma



Brijkrishen Dullu

प्रकाशक
इंडियन प्रेस लिमिटेड
प्रयाग

सरस्वती-सिरीज़

रहस्य रोमांच

मशीन के पुर्ज़े

एक सनकी परिवार की आश्चर्यजनक कहानी।

सर्वदानंद वर्मा

एक

मई महीने की एक दुपहरी थी। महेशनारायण इस समय यही नहीं तय कर पा रहे थे कि वे क्या करें। कभी घड़ी देखते, कभी उठकर खिड़की के पास जा खड़े होते। उनकी आयु लगभग तीस वर्ष की थी, लम्बे, गोरे और शिक्षित व्यक्ति थे। बेकारी के इस युग में जो कई संस्थायें लोगों को नौकरी दिलाने का व्यापार करती हैं, वे वैसी ही एक संस्था के सेक्रेटरी थे। स्कूलों को अच्छे मास्टरों की, पढ़ने में कमज़ोर लड़कों को योग्य प्राइवेट ट्यूटरों की या किसी बड़े आदमी को कुशल प्राइवेट सेक्रेटरी की जब ज़रूरत होती तो महेशनारायण की वे याद करते। इससे उन्हें काफ़ी आय भी थी। क्योंकि संस्था उन्होंने स्वयं खोल रक्खी थी और स्वयं ही उसके सेक्रेटरी के रूप में सर्वेसर्वा बन बैठे थे। पहले तो उन्हें इस कार्य में दिलचस्पी नहीं हुई पर बाद में वे रस लेने लगे।

महेशनारायण उठकर कमरे में इधर-उधर टहलने लगे। उनका यह सदा का नियम था कि वे यह मानने को तैयार नहीं, होते थे कि वे बेकार हैं। काम खत्म हो जाने के बाद वे यों ही कुछ सोचते-विचारते टहलते रहते थे। टहलते-टहलते वे एक फूलदान के पास रुके, उसके फूलों पर हाथ फेरकर मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे कि दरवाज़े पर खटखटाहट हुई। वे समझ गये, यह खटखटाहट उनके क्लर्क ने ही की है, पर उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। चुपचाप आकर अपने टेबुल के सामने बैठ गये। क्लर्क जगत कमरे में आया, कहा—महाशय, मिस्टर दीनदयाल बाहर आपसे मिलने के लिए बैठे हैं!

'अच्छा, पर वे बिना समय निश्चित किये क्यों और कैसे चले आये', यह उन्होंने मन ही मन कहा, फिर जगत से बोले—अच्छा होगा, उन्हें यहीं बुला लाओ।

जगत चला गया। महेशनारायण दीनदयाल के इस समय आने से न केवल प्रसन्न हुए वल्कि उन्हें आश्चर्य भी हुआ। दो वर्षों से उससे दीनदयाल से भेंट न हुई थी। उन्हें वस यही पता था कि दीनदयाल अव अच्छी स्थिति में हैं।

मिनट भर वाद ही द्वार खोलकर दीनदयाल भीतर आये। क़रीब पैंतीस वर्षों की आयु थी और रूप भी कुछ वहुत अच्छा नहीं था, भूरे-भूरे बाल थे। आते ही उन्होंने कहा—कहो महेश, अच्छे तो हो! मैं तुम्हें डिस्टर्व तो नहीं कर रहा हूँ? चाहता ज़रूर था कि आने के पहले तुम्हें सूचित कर दूँ पर भूल गया। आज इधर से जा रहा था, सोचा, मिलता ही चलूँ। कैसे कट रही है!

महेशनारायण ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया—ठीक ही कट रही है। स्कूलों को अभी भी मास्टरों की ज़रूरत पड़ती है, लड़कों को ट्यूटर चाहिए ही। इन्हीं के वल पर मज़े में कट रही है। खैर, यह सब तो होता रहेगा। तुम्हारे आने से मुझे ख़ुशी ही हुई है। मैं तो यह समझने लगा था कि अव तुम बड़े आदमी हो गये हो, यहाँ आओगे ही नहीं! क्या शादी हो गई?

'नहीं भाई। ऐसा कुछ नहीं हुआ। मुझे तो अब अपनी स्वतंत्रता से डर लगने लगा है। समझते हो कि नहीं?'—दीनदयाल ने कहा।

'ख़ूब समझता हूँ। अच्छा, तुम तो कहीं बाहर चले गये थे न?'

'हाँ, अभी महीना भर पहले लौटा हूँ। दो-एक हफ़्ते तो वहन के साथ गाँव में रहा।'

'कव उसकी शादी हुई?'

'दो वर्ष हो गये। खैर, इन वातों को जाने दो। मैं आज तुमसे एक सलाह लेने आया हूँ। तुम जानते हो, मुझे कुछ करने की ज़रूरत नहीं है, और यही चीज़ मुझे खाये जा रही है। मैं निठल्लेपन से आजिज़ आगया हूँ। मुझे कोई काम वताओ'—दीनदयाल ने कहा।

महेशनारायण ने एक सिगरेट निकालकर दीनदयाल को दी, एक स्वयं सुलगाई। तब कहा—दीनदयाल, बेकारी से घवराते क्यों हो? बेकारी से मेरा मतलव है यह काम न करने की ज़रूरत। बारह वर्ष

तक तुमने लगातार परिश्रम किया है, तब यह पूर्ण विश्राम तो तुम्हारे लिए आवश्यक ही था! क्यों न?'

दीनदयाल—अब सोचता हूँ, वह लगातार काम में पिसे रहना इससे कहीं अच्छा था! खैर, मैं इसी लिए आज तुम्हारे पास आया हूँ। इधर-उधर यात्रा करते फिरते रहने से मैं परेशान हो गया हूँ और एकदम फ़ुरसत मुझे खाये जा रही है। मुझे काम बताओ।

महेशनारायण ने अजीब चेहरा बनाया, फिर कहा—तो तुम्हारे कहने का मतलब यह है कि तुम्हें कोई काम चाहिए?

'हाँ, परिस्थितियों को देखते हुए तो यही कहना पड़ता है।'

'ठीक है। मैं जानता हूँ, जो लोग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न और समृद्ध हैं, उन्हें काम करने की झक होती है, काम करते-करते ही वे मर जाते हैं। मैं समझता था, इस तरह मौत बुलाना समाजवादियों या ऐसे ही लोगों को अच्छा लगता है, पर अब देखता हूँ, आज-कल लोग सचमुच ही अपने धन से घृणा करने लगे हैं। ऐसा ही रहा तो शायद थोड़े दिनों में लोग अपने स्वास्थ्य से भी घृणा करने लगें। खैर, तो तुम, काम करना चाहते हो! कैसा काम चाहिए, ज़रा स्पष्ट बता सकते हो?'—महेशनारायण ने पूछा।

दीनदयाल ने जवाब दिया—देखो, यह तुम जानते ही हो कि मुझे वेतन की अधिक चिन्ता नहीं है। कभी यह बात थी, पर अब ऐसा नहीं है। इस समय तो मुझे कोई आकर्षक कार्य चाहिए, जिसमें मेरा मन लग सके। मेरा कहने का मतलब है कि मैं ऐसे लोगों के साथ काम करना चाहता हूँ जो बाहरी लोग हों, जिनसे मेरा कोई परिचय न हो, जो सर्वथा.... ग़र्ज़ कि मुझे कोई काम मिलना चाहिए।

महेश—अच्छा, ठहरो। ज़रा एक मिनट मुझे सोच लेने दो।

महेशनारायण अपनी कुर्सी पर आँख मूंदकर लुढ़क रहे। उनकी मुखाकृतियों से ऐसा लग रहा था, वे इस समय किसी ऐसे जगत् में विचरण कर रहे हैं जहाँ दीनदयाल की पहुँच नहीं हो सकती। थोड़ी देर इस अवस्था में रहने के बाद वे पुनः आँखें खोल, सीधे बैठे और टेबुल में जड़ी हुई बिजली की घंटी दो-बार बजाई। उन्होंने तय कर लिया

था कि दीनदयाल को वे कौन काम बतायेंगे, पर यह उनकी आदत थी कि तुरन्त ही किसी को कोई बात बताते नहीं थे। घंटी की आवाज़ पर जगत कमरे में आया, उसके हाथ में बहुत-से कार्ड थे। उन्हें महेश-नारायण के सामने टेबुल पर रखकर वह बिना कुछ बोले बाहर चला गया। महेशनारायण वे कार्ड उठाकर देखने लगे। एक कार्ड हाथ में लेकर वे बोले—'यहाँ तो नहीं जाना चाहोगे? विधवा है, एक सन्तान है, थोड़ी थोड़ी पागल है। नहीं, नहीं, यह ठीक नहीं है।' वह कार्ड फेंक दिया गया। दूसरा कार्ड हाथ में उठाकर बोले—'यह एक स्कूल की जगह है, यहाँ तो तुम्हारा मन लगेगा ही नहीं।' उसे भी फेंक दिया। 'आह, यह रहा'—कहकर एक तीसरा कार्ड उन्होंने हाथ में लिया, कहा—'सर कृष्णकुमार! तुमने इनका नाम तो सुना ही होगा!'

दीनदयाल—हाँ, नाम तो सुना है।

महेश—सभी ने उनका नाम सुना है। मैं यह पूछता हूँ कि उनके बारे में और क्या सुना है?

दीनदयाल—बहुत तरह की बातें हैं, आर्थिक कठिनाई भी बताई जाती है। पर मेरी आदत नहीं कि लोगों के बारे में सुनी हुई बातों पर विश्वास करूँ। अपवाद लोगों के बाहरी जीवन से सम्बन्ध रखता है, अपवाद लगानेवाले लोगों की वास्तविक कठिनाइयों और उद्देश्यों पर नज़र नहीं रखते।

महेशनारायण ने उत्तर दिया—मुझे कहना पड़ेगा कि तब तुम इनके बारे में कुछ भी नहीं जानते। लो, तुम सिगरेट पियो, मैं तुम्हें इनके बारे में थोड़ा-बहुत हाल बताता हूँ। सुनो, सर कृष्णकुमार का परिवार अठारहवीं सदी के शुरू में बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस वंश में कई अच्छे विद्वान् हुए, एक कवि भी हुआ जो पागल हो गया। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में, वंश का एक व्यक्ति राजाबहादुर हुआ। उसे यह खिताब क्यों दिया गया, यह मैं नहीं जानता। उसने अपने मकान आदि बनवाये जो अभी तक इस वंश की सम्पत्ति हैं। सर कृष्णकुमार अपने वंश के चौथे राजाबहादुर हैं। उन्होंने युद्ध में भी अपनी सेवायें प्रदान की थीं। यही इस वंश का इतिहास है, पर यही सब कुछ नहीं है।

महेशनारायण उठकर कमरे में टहलने लगे। कई कारणों से वे स्वयं सर कृष्णकुमार को पसन्द नहीं करते थे, पर यदि दीनदयाल ऐसा ही मूर्ख है कि उसे बिलकुल अपरिचित और बाहरी व्यक्तियों के यहाँ काम करने की धुन है, तो वे उसे इनके ही यहाँ क्यों न भेज दें! कम से कम, आगे के लिए उसकी यह झक तो दूर हो जायगी! थोड़ी देर बाद उन्होंने फिर कहना आरम्भ किया—अभी कुछ वर्षों पहले तक इस परिवार के पास काफ़ी सम्पत्ति थी! फिर न जाने क्या एक रहस्य-जनक घटना घटी, कृष्णकुमार ने अपने क्लब आदि त्याग दिये, सभी साज-सामान छोड़ दिया, और इस तरह रहने लगे जिससे स्वभावत: ही लोगों को इधर-उधर कानाफूसी करने का अवसर मिला। कृष्णकुमार का विवाह लगभग बीस वर्ष की अवस्था में हुआ। एक पुत्र उत्पन्न हुआ, और कुछ ही महीने बाद उनकी पत्नी मर गई। कई वर्ष वे वैसे ही रहे, फिर दूसरा विवाह किया जो पत्नी अभी जीवित है। कई सन्तानें हुईं, कितनी, यह तो खयाल नहीं आ रहा है पर सुनता हूँ, एक लड़की काफ़ी सुन्दरी है। बस, इतना ही मैं जानता हूँ।

दीनदयाल ने कहा—इससे तो यह पता लगता है कि लड़के-लड़कियाँ सब बड़े-बड़े होंगे। कृष्णकुमार भी पचास से ऊपर की आयु के होंगे।

महेश—हाँ, और क्या? अभी कुछ वर्षों पहले एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। जब दो वर्ष का था, तभी गिर पड़ा और उसका अंगभंग हो गया। अब वह सात वर्ष का है और उसके लिए एक ट्यूटर की जरूरत है।

महेशनारायण पुनः अपनी कुर्सी पर आ बैठे और सिगरेट सुलगाई। फिर कहने लगे—देखो दीनदयाल, मैंने सर कृष्णकुमार के बारे में इतनी बातें तुम्हें इसी लिए बताई हैं कि तुम अपरिचित व्यक्तियों के यहाँ काम चाहते हो और वेतन की चिन्ता तुम्हें नहीं है। तुम यदि उनके यहाँ काम करने जाओ तो यह मुमकिन है कि तुम्हें कई महीने वेतन न भी मिले, शायद कभी न मिले। तुम्हें वे लोग विचित्र व्यक्ति जान पड़ेंगे! मैंने उनके पास एक आदमी और भेजा था, वह एक महीने रहा, रुपया मिला नहीं और वह लौट आया। वही कह रहा था कि वह

घर जैसे एक पागलखाना है। जैसा कि तुमने कहा, तुम्हें एकदम अपरिचित व्यक्तियों के यहाँ काम करने की इच्छा है, तो इनके यहाँ चले जाओ। यह साफ़ मैं कह देना चाहता हूँ कि यदि रुपयों की चिन्ता हो तो मत जाओ। यह भी साफ़ कह दूँ कि श्रीमती कृष्णकुमार, यानी सर साहब की पत्नी ज़रूर पागल हैं, इसमें भी संदेह नहीं।

दीनदयाल ने पूछा—वह जगह कैसी है?

महेश—बहुत बड़ी जगह है, बड़े-बड़े बाग़ हैं। स्टेशन से लगभग चार मील दूर है।

दीनदयाल ने कहा—मैं वहाँ जाऊँगा।

महेशनारायण को विश्वास नहीं था कि कृष्णकुमार के बारे में सब कुछ सुनकर भी दीनदयाल वहाँ जाना चाहेंगे। तभी उन्होंने चौंककर पूछा—सच?

दीनदयाल—महेश, मेरा निर्णय केवल एक झक में हुआ है। इसमें तर्क करने की गुंजाइश ही नहीं है। हाँ, मेरे वहाँ रहने का क्या प्रबन्ध होगा?

महेश—वहाँ सब ठीक हो जायगा।

थोड़ी देर तक बातचीत करके दीनदयाल चले गये। महेशनारायण खिड़की के पास खड़े होकर दुनियावालों की मूर्खता पर विचार करने लगे। उन्हें यह मानकर संतोष हुआ कि ऐसे मूर्खों की बस्ती में वे बहुत प्रसिद्ध नहीं हुए। दीनदयाल को उन्होंने कभी अच्छी नज़रों से नहीं देखा था और इस भेंट ने उन्हें और भी इनकी दृष्टि से नीचे गिरा दिया।

दो

महेशनारायण से भेंट होने के कुछ दिनों बाद दीनदयाल ने सर कृष्णकुमार के यहाँ जाकर काम करने का निश्चय किया। वह एक साधारण सूटकेस लेकर स्टेशन जा पहुँचे और एक खाली डिब्बा देखकर गाड़ी में जा बैठे। रास्ते भर उनका दिमाग़ न जाने किन-किन विचारों में उलझता रहा और उनका ध्यान टूटा तब जब इलाहाबाद स्टेशन का भारी कोलाहल उनके कानों में पहुँचा। आखिर, बनारस से इलाहाबाद जाने में, इस बीसवीं सदी में देर ही कितनी लगती है!

गर्मी के झुलसानेवाले दिन थे। दीनदयाल स्टेशन के बाहर निकलकर चुपचाप खड़े हो गये। उन्होंने तय किया कि वे पैदल ही सर कृष्णकुमार के घर जायँगे। क्या जाने गाँव के उस घर में उनका कैसा स्वागत हो। थोड़ी ही देर बाद वे गणेशपुर जानेवाली सड़क पर चल रहे थे। आस-पास के दृश्यों को देखते हुए और रास्ता पहचानकर वे चल रहे थे, क्या जाने, वहाँ ज़रूरत न होने पर लौटना पड़ जाय! धूप के कारण मुख पर चुहचुहा आनेवाले पसीने को वे रूमाल निकालकर पोंछ लेते और इस तरह बढ़ते जाते थे। प्यास ज़ोरों से लग आई थी। सड़क पर एकदम सन्नाटा था और अभी शहर से समीप ही होने के कारण, कहीं-कहीं इसके दोनों किनारे रईसों के बाग़ या छोटे-मोटे सुन्दर बने हुए मकान दीख पड़ जाते थे। सड़क के किनारे एक नाला बह रहा था, जो गर्मी के कारण सूखता जा रहा था। उसी समय दो मोटरें तेज़ी से दीनदयाल की बग़ल से निकल गईं। उन्हें ऐसा लगा, गति की प्रतियोगिता में ये दोनों मोटरें कहीं एक दूसरे से टकरा न बैठें।

लगभग एक घंटे यों चलते रहने के बाद दीनदयाल गणेशपुर गाँव पहुँच गये। सर कृष्णकुमार के मकान के आगे पहुँचकर उन्होंने देखा,

वह एक पुरानी, गिरती-पड़ती इमारत है। मकान में आदमियों के रहने का कहीं कोई चिह्न नहीं जान पड़ता, चारों ओर अखंड शान्ति विराज-मान है। दीनदयाल अब यही सोचने लगे कि यदि यहाँ उन्हें रहना पड़ा तो यह शान्तिमय और स्थिर वातावरण उन्हें खा जायगा और स्वप्नों की तरह उनके कई वर्ष यों ही व्यतीत हो जायँगे।

दो बातें देखकर उन्हें अत्यधिक आश्चर्य हुआ। एक तो वहाँ किसी भी तरह के मानव-चिह्नों का सर्वथा अभाव, दूसरे बाग़ का अस्तव्यस्त रूप! उन्हें लगा कि वे कहीं किसी ग़लत स्थान पर तो नहीं आगये! अगर यही सर साहब का मकान होता तो इसमें कोई तो रहता होता और यदि कोई रहता होता तो ऐसी मनहूसियत यहाँ न होती! इतने बड़े आदमी के यहाँ बाग़ में माली भी नहीं जो बाग़ की देखभाल करता रहे, यह भी उन्हें आश्चर्यजनक ही लगा। उन्होंने सिर ऊपर उठाकर देखा, दुमंज़िले की सभी खिड़कियों के दरवाज़े बन्द थे। उन्हें अब यह निश्चय हो गया कि ज़रूर सर कृष्णकुमार का परिवार यह घर छोड़कर कहीं और चला गया। फिर भी, उन्होंने द्वार पर जाकर धीरे से एकबार पुकारा, कोई जवाब नहीं मिला। दुबारा पुकारा, फिर भी कोई उत्तर नहीं। उन्हें अब महेशनारायण पर क्रोध आ रहा था, बिना यह पता लगाये कि सर साहब का परिवार यहाँ है भी या नहीं, उन्हें व्यर्थ ही यहाँ भेज दिया! लाचार होकर उन्होंने दरवाज़े के हैंडल पर हाथ रक्खा, वह खुल गया। कौतूहल के साथ वे भीतर गये और एक बड़े कमरे के द्वार पर जाकर खड़े हो गये। सब कुर्सियों पर धूल की तहें जमी हुई थीं। अखंड शान्ति यहाँ भी खेल रही थी। उन्होंने एक-बार धीरे से खाँसा भी ताकि कोई वहाँ आसपास कहीं हो तो सुन ले पर कोई न आया। उन्होंने चारों ओर देखा, उन्हें लगा कि यहाँ मृत्यु की नीरवता व्याप्त है। वे यह सोचकर बाहर चले कि और जोर से एकबार नौकर को पुकारें। दो क़दम ही अभी चले थे कि उन्हें ऊपर किसी के गाने की आवाज़ कान में पड़ी।

यह स्पष्ट ही किसी युवती की आवाज़ थी और आधीरात को लवा पक्षी की आवाज़ की तरह ही दीनदयाल को यह स्वर इस भयानक

नीरव भवन में असंगत लगा। उसी समय उन्हें ऐसा मालूम हुआ, कोई किसी सीढ़ी से नीचे उतर रहा है। गाना चलता रहा और वे अपने को उस स्वर पर एकदम भूल बैठे। यह भी भूल गये कि वे बिना पूछे इस मकान में घुस आये हैं और कोई इसका कारण पूछ बैठे तो क्या उत्तर देंगे, इसका भी उन्हें ध्यान न रहा। लगभग मिनट भर बाद ही एक युवती वहाँ आई और बिना उन्हें देखे एक खिड़की के पास जाकर, वहाँ रक्खी हुई कुछ किताबें देखने लगी। उसका गुनगुनाना जारी ही रहा। दीनदयाल उसे देखने लगे पर अधिक देर तक वे ऐसा कर नहीं सके। युवती जब किताब लेकर जाने लगी तो उसने इन्हें देखा। उसने आश्चर्य का कोई भी चिह्न प्रकट नहीं किया। केवल इतना ही पूछा—आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं? आपका कितना बाक़ी है?

उसके इन प्रश्नों से दीनदयाल इतने चकित और उसके सौंदर्य पर इतने प्रभावित हो गये कि उनसे कुछ जवाब नहीं देते बना। युवती ने पुनः कहा—मैं यह पूछ रही हूँ कि आप कौन हैं और आपका कितना बाक़ी है?

दिन भर बाक़ी रुपयों के लिए तक़ाजा करनेवाले इतने आते थे कि युवती हर आनेवाले को यही समझ बैठती थी कि वह अपने कुछ बाक़ी रुपये ही माँगने आया होगा। दीनदयाल को भी उसने यही समझा।

दीनदयाल उसे देखते ही रहे। युवती लगभग बीस वर्ष की थी, गोरा रंग, घने काले घुंघराले केश, छोटा-सा मुख, जिससे हास्य की निर्मल धारा बहने को सदैव प्रस्तुत रहती। उसमें अतीव आकर्षण था—वह अत्यधिक सुन्दरी थी! वह लगातार दीनदयाल को देख रही थी, आँखों की भौंहें जरा ऊपर को उठ गई थीं और मुख के कोने पर मुसकराहट की रेखा झलक रही थी। उसने कहा—आप अपने काम में बहुत होशियार नहीं जान पड़ते, नौसिखिए जैसे हैं। जान पड़ता है, तक़ाज़ा करने के काम पर आप अभी-अभी ही तैनात हुए हैं!

दीनदयाल घबराहट में बोल उठे—बात यह है कि... मुझ पर आपका... आप पर मेरा बाक़ी कुछ नहीं है और न मैं तक़ाजा ही करने आया हूँ।

युवती—ओह, तो यह आपको पहले ही कह देना चाहिए था। मैं तो जैसे नर्वस (घबरा गई थी) हो गई थी। मैं नहीं चाहती कि यहाँ आनेवाले महाजन ..। उनके तक़ाज़ा करनेवाले मुझे गाते सुनें, लोग यह मान ही नहीं सकते कि कठिनाई में पड़ा हुआ व्यक्ति प्रसन्न भी रह सकता है। आप यह मानते हैं न!

दीनदयाल को उस मुखरा युवती को जवाब देना ही था। उन्होंने कहा—हाँ, मानता हूँ। माफ़ करें, मैं इस तरह घर में बिना पूछे घुस आया, पर . . .

युवती ने बात काटकर कहा—नहीं, नहीं, इसमें माफ़ करने की कोई बात नहीं है। सभी लोग यहाँ इसी तरह घुसे चले आते हैं, नौकर भी लोगों के पुकारने पर ध्यान ही नहीं देते। हाँ, क्या आपने भी पुकारा था? किसी ने जवाब भी दिया था?

दीनदयाल—पुकारा तो था पर शायद किसी ने जवाब नहीं दिया।

युवती—मैं समझती थी कि ऐसा ही हुआ होगा। हाँ, आप कौन हैं? मेरा नाम है अनीता, मैं सर कृष्णकुमार की पुत्री हूँ।

दीनदयाल—मेरा नाम दीनदयाल है। मैंने सुना कि आप लोगों को एक टयूटर की ज़रूरत है, तभी आया था।

युवती ने आश्चर्य से कहा—या भगवान्, पर क्या आपको सावधान नहीं कर दिया गया था?

दीनदयाल को महेशनारायण की बातें याद आईं। उन्होंने कहा—कुछ-कुछ तो बतलाया गया था।

युवती ने और भी आश्चर्यचकित होकर कहा—फिर भी आप चले आये! मैं तो समझती थी, आप-जैसे लोग दुनिया में कम ही हैं! मुझे माता जी से कह आना चाहिए।

वह सीढ़ियों के पास गई और पुकारकर कहा—अम्मा, अम्मा, महेशनारायण ने दूसरा भेजा है।

एक मिनट बाद ही ऊपर से एक संगीतमय स्वर सुन पड़ा—बेटी, उसे टेबुल पर रख दो। नीचे आकर मैं ले लूँगी।

युवती दीनदयाल की ओर घूमी, कहा—अम्मा समझ रही हैं, आप कोई पुस्तक हैं। तभी टेबुल पर रख देने को कह रही हैं। खैर, आपका सामान कहाँ है?

दीनदयाल ने अपना छोटा सूटकेस आगे कर कहा—यह रहा।

युवती—बस?

दीनदयाल—हाँ। ज्यादा लाकर क्या करता? इसका क्या निश्चय था कि आप लोग मुझे रख ही लेंगे?

अनीता ने कहा—निश्चय तो था ही। आपको महेश ने मेरे यहाँ की स्थिति साफ़-साफ़ समझा दी थी फिर भी आप आये। अब तो आप रख ही लिये जायेंगे। बहुत मुमकिन है, अभी महीने दो महीने तनख्वाह न भी मिले, इसलिए, वेतन कितना होगा यह अभी से तय करना व्यर्थ है। जिसे आपको पढ़ाना है, यानी रामकुमार को आप पसन्द करेंगे। वह बिचारा बड़ा सीधा-सादा लड़का है। हाँ, यह तो पूछना भूल ही गई, आपको भोजन तो स्वीकार होगा?

दीनदयाल इस प्रश्न पर चकराये! भोजन किसे पसन्द न होगा। उन्होंने आश्चर्य से कहा—हाँ, हाँ।

अनीता ने उनसे भी अधिक आश्चर्य में भरकर पुनः पूछा—क्या रोज़ भोजन के आप आदी हैं?

दीनदयाल को अब बात समझ में आई, बोले—नहीं नहीं। यह कोई ज़रूरी नहीं है कि मुझे दिनभर में तीन बार भोजन ठीक समय पर अवश्य मिले! उसके बिना भी काम चल जायगा।

अनीता—यह ठीक है। पर माफ़ करें, आज आप बड़े बेवक़्त आये हैं। रसोईदारिन बाहर चली गई है और इस समय खाना नहीं बन सकेगा।

वह प्रसन्नता से हँसी, और आश्चर्य है कि दीनदयाल को भी ऐसा मालूम हुआ जैसे बिना खाये हुए रह जाना कोई बड़ी बात नहीं।

संध्या की छाया धीरे-धीरे आसपास फैलती जा रही थी।

तोन

दूसरे दिन दीनदयाल रोज़ से जल्दी सोकर उठे । यद्यपि अनीता के साथ उनकी बातचीत बड़ी मनोरंजक और मधुर हुई थी, फिर भी वे उसके मुँह से सर-परिवार के विषय में और यहाँ के जीवन के विषय में कुछ अधिक न जान सके। इस समय उनके कमरे में प्रातःकाल की चमकती धूप लोट रही थी। बाहर खुले आकाश में बादलों के टुकड़े इधर-उधर दौड़ रहे थे और वृक्षों पर रात भर के अलसाये पंछी पंख फैलाकर गाने गा रहे थे, एक दूसरे को प्रेम से पुकार रहे थे और कुछ चारे-दाने की तलाश में उड़ चले थे। सुगन्धित और मनोहर हवा वह रही थी।

हाथ-मुँह धोकर जब वे खाली हुए तो उन्होंने मकान के चारों ओर घूमकर देखने का निश्चय किया । जलपान का तो कोई सवाल ही नहीं था, इस परिवार के कल के ही व्यवहार से वे समझ गये थे कि अतिथि अथवा बाहरी व्यक्तियों के प्रति व्यवहार बर्तने में सजग रहने की आवश्यकता ये लोग नहीं समझते । वे उठकर बाहर आये और मकान के एक ओर गये। मकान की दशा कितनी भग्न हो गई है, यह देखकर उन्हें महान् आश्चर्य हुआ। मकान न होकर जैसे यह कोई अति प्राचीन समाधिस्थल हो! मृत्यु के वासस्थान-सा भयानक बना हुआ यह भवन कभी सुन्दर था, समृद्ध और आकर्षक था, यह भग्नावशेषों को देखकर सहज ही जाना जा सकता था। दीवालों पर मकड़ियों का जाला फैल रहा था मानो प्रकृति को यह भग्नता स्वीकार न हो और वह उसे इन जालों-द्वारा ढँक देना चाहती हो। बाग़ में भी अस्तव्यस्तता का यही साम्राज्य था। व्यवस्था और नियमित देखभाल के अभाव में फूलों के पौधे और लान की घास मनमाने बढ़ रहे थे, पानी बिना सूख रहे थे और उन पर मुर्दनी छाई हुई थी। ऐसा लगता था जैसे वर्षों से

कोई इनकी देखभाल करनेवाला नहीं मिला, माली के कुशल हाथ इन तक नहीं पहुँचे, अथवा सर-परिवार ने इस घर को छोड़कर कहीं और जाने का निश्चय कर रक्खा हो, तभी सब चीज़ें भाग्याधीन छोड़ दी गई हों। इन्हीं विचारों में वे डूब-उतरा रहे थे कि उन्हें पीछे किसी के चलने का शब्द सुनाई दिया। घूमकर उन्होंने देखा, वह अनीता थी! काली साड़ी में उसका गोरा शरीर सूर्य के उजले प्रकाश में चमक उठा!

उसने दीनदयाल के देखते ही कहा—आप बहुत जल्दी उठ गये! अच्छी तरह सोये या नहीं?

दीनदयाल ने उसके स्वर्गीय सौंदर्य का छिपे-छिपे पान करते हुए बड़े उत्साह से कहा—हाँ, हाँ। खूब आनन्द से सोया। आज का सवेरा बड़ा सुहावना था, तभी उठकर यहाँ घूमने चला आया!

अनीता—नहाने का पानी तो ठीक-ठीक मिल गया था न!

दीनदयाल—हाँ। आप इन बातों की चिन्ता न करें।

अनीता थोड़ी देर तक उसके साथ-साथ ही बाग़ में टहलती रही। इस बीच वह बराबर बातें करती रही, अपनी, सर कृष्णकुमार की, मा की, रामकुमार की, बाग़ के देखभाल न होने की और यह कि वह ज्यादा नहीं पढ़ सकी आदि-आदि। दीनदयाल को यद्यपि इन बातों में विशेष रस नहीं मिल रहा था, बातें करने की अपेक्षा वे मुग्ध होकर उस रूप-छवि का पान करना ही अधिक उपयुक्त समझ रहे थे, फिर भी वह बोलती जा रही थी। और जब वह बोलती जा रही थी तो उसे कुछ न कुछ जवाब देते जाना भी आवश्यक ही था। सो, दीनदयाल भी 'हाँ, हूँ', करते जा रहे थे। अन्त में अनीता ने कहा—आपने अपने शिष्य को तो अब तक देखा ही नहीं। क्या चलकर देखना चाहते हैं?

दीनदयाल को अब खयाल आया कि वास्तव में उसे देखने की इच्छा तो पहले उन्हें होनी चाहिए थी! उसे ही पढ़ाने के लिए यहाँ आये हैं और उसे ही भूलकर वे दूसरी बातों में लग गये! ये लोग क्या सोचते होंगे! उन्होंने तुरन्त भूल सुधारने के इरादे से कहा—ज़रूर ज़रूर। माफ़ करें, मुझे अब तक इसका ध्यान ही नहीं आया था।

उन्हें इस बात पर आश्चर्य ज़रूर हो रहा था कि कल से लेकर आज तक इस घर में केवल अनीता ही दीख पड़ी, जैसे और कोई प्राणी रहता ही न हो !

अनीता ने कहा—रामकुमार अब सात वर्ष का है। दो वर्ष का जब था, उसी समय एक दुर्घटना हो गई। शायद नर्स के हाथों से वह गिर पड़ा, तब से उसके पाँव बेकार हो गये हैं। आपको वह बहुत पसन्द आयेगा, बेचारा बड़ा भोला लड़का है। अच्छा, एक काम न करें। आइए शहर से बाज़ार कर आयें। कुछ जरूरी चीज़ें लेनी हैं। गाड़ी जुतवा लेती हूँ।

लौटकर जब वे आये, उस समय लगभग बारह बजे थे। रामकुमार के कमरे में जाने पर दीनदयाल ने देखा, वह अपनी चारपाई पर ही पड़ा हुआ है। अनीता जाकर उसके पलँग पर बैठ गई। बालक ने दीन-दयाल की ओर उँगली उठाकर पूछा—ये कौन हैं ?

अनीता—तुम्हारे नये मास्टर हैं भैया ! बड़े अच्छे आदमी हैं, तुम्हें खूब प्यार करेंगे !

बच्चे ने वैसे ही पूछा—मास्टर साहब, अगर मैं बाग़ में पढ़ा करूँ तो कोई हर्ज है ? पिता जी ने मेरे लिए कल यह नई कुर्सी भेज दी है।

उसने उँगली से कमरे के कोने में पड़ी हुई एक कुर्सी दिखाई। यह पहिये लगी हुई कुर्सी थी और बहुत सुन्दर बनी हुई थी। दीनदयाल उसके पास जाकर उसे देखने लगे। रामकुमार ने कहा—ज़रा उसे इधर लेते आइये।

दीनदयाल ने उसे बिछावन की ओर ढकेल दिया। बच्चे ने उसका एक पहिया छूते हुए कहा—मैं इसे खुद ही चला लूंगा। देखूं, पूरे बाग़ में चला सकता हूँ या नहीं ! अनीता बहन, तुम आकर देखना, मैं इसे जरूर अपने से चला लूंगा। इतने लम्बे-चौड़े बाग़ रमें अकेले ही चलाऊँगा !

विजयगर्व बालक के मुख पर झलक उठा। वह खुशी से फिर बोल उठा—पर तुम पीछे से चलाना नहीं, मैं खुद ही चलाऊँगा।

उसका मन रखने के लिए अनीता ने कहा—हाँ हाँ, मैं क्यों चलाऊँगी ? मुझे तो खुद उसका साथ पाने के लिए पीछे-पीछे दौड़ना पड़ेगा !

अब बालक अपनी जीत के विचार से और भी प्रसन्न हो उठा। ताली पीटकर बोला—हा हा, अनीता बहन मुझे नहीं पा सकेगी, नहीं पा सकेगी !

अनीता ने पल भर बाद ही कहा—अच्छा राम, अब ज़रा नये मास्टर से थोड़ा पढ़ तो लो बेटा ! पढ़ोगे न !

बालक का प्रसन्नमुख इतनी शीघ्र बदल गया कि दीनदयाल को देखकर आश्चर्य हुआ। उसने धीरे से कहा—हाँ, पढ़ूँगा। पर सवाल नहीं, मुझे हिसाब मत पढ़ाइएगा मास्टर साहब !

दीनदयाल—नहीं। हिसाब नहीं पढ़ना चाहोगे तो न पढ़ाऊँगा। पर मैं तुम्हें ऐसा तरीक़ा बताऊँगा जिससे तुम्हें हिसाब अच्छा लगने लगे।

जब वे रामकुमार को छोड़कर बाहर निकले तो अनीता पलभर ज़मीन की ओर ताकती स्थिर खड़ी रह गई। फिर ज़मीन पर एकाएक एक पाँव पटककर उसने दीनदयाल की ओर देखा, उसकी आँखों में इस समय आँसू भरे हुए थे। उसने रुँधे गले से कहा—दुनिया कितनी घृणित जगह है ! यहाँ हर सुन्दर चीज़ टूट जाती है ! यह बेचारा हमेशा ही ऐसा रहेगा ! उसके लिए दुनिया व्यर्थ हो गई, पाँव बिना संसार निस्तत्त्व हो गया !

उसके हृदय से संसार के प्रति घृणा निकल पड़ी जैसे अपनी खोल में से कटार बाहर निकल पड़ी हो। पर पलभर बाद ही उसने अपने को संयत कर लिया और अपने स्वाभाविक स्वर में बोली—आप अभी यहाँ भीतर नहीं गये। आइए, आपको मैं भीतर घुमा लाऊँ।

दीनदयाल उसके साथ भीतर चले। भीतर दीवालों पर कई चित्र लगे हुए थे। उसने दीनदयाल को एक-एक के बारे में बतलाया। चलते-चलते वे एक बड़े और आकर्षक चित्र के आगे रुके। वे कुछ कहना ही चाहते थे कि अनीता बोल उठी—हाँ, मैं समझ गई। मैं बहुत कुछ इससे मिलती-जुलती हूँ पर यह कोई आश्चर्य की बात नहीं ! मेरे

परिवार में एक अच्छे कवि भी हुए हैं, यह उन्हीं की मा की तसवीर है।

सब देख-सुनकर वे वापस लौट आये। अनीता ने दीनदयाल को सूचित किया कि शायद एक-डेढ़ बजे के क़रीब उन्हें खाना मिलेगा और चली गई। दीनदयाल भी अपने कमरे में चले आये और महेश-नारायण को पत्र लिखा जिसमें अपने गत बीस घंटों का यहाँ का अनुभव लिखा। पाँच बजे के क़रीब उन्हें चाय के लिए भीतर बुलाहट हुई, उस समय उन्होंने भीतर कमरे में जाकर देखा कि कुर्सी पर की धूल झाड़-पोंछकर साफ़ कर दी गई है और कमरा कुछ दूसरा ही लग रहा है। वे खिड़की के पास रक्खी हुई किताबों की आलमारी के पास जाकर उनके नाम पढ़ने लगे, उसी समय पीछे पैरों की गति सुनकर वे घूमे। एक बहुत सजी हुई स्त्री उनकी ओर बढ़ी हुई आ रही थी, एक हाथ में पुस्तक थी और एक में मिठाइयों की तश्तरी। आते ही उसने कहा—आपको पुनः देखकर बड़ी खुशी हुई। मैं जानती थी, कभी न कभी आप हमें देखने फिर ज़रूर आयँगे। आप मेरा मतलब तो समझ ही गये होंगे!

स्वर बहुत सधा हुआ था और उसमें दुलारभरा जान पड़ता था। दीनदयाल के कुछ उत्तर देने के पहले ही वह फिर बोल उठी—माफ़ कीजिए, आपको चाय मिलने में देर हो गई। यह किताब पढ़ती रह गई। बड़ी अच्छी किताब है .... यह .....।

इसी समय अनीता कमरे में आई। उस स्त्री को देखते ही कहा—ओ मा, तुम यहाँ बैठी हो और इनसे बातें कर रही हो! मैं तो इनसे तुम्हारा परिचय कराना चाहती थी!

वह स्त्री बोल उठी—क्यों महाशय, आप कोई सिपाही वग़ैरह तो नहीं हैं?

दीनदयाल—नहीं श्रीमती जी, मैं तो नया ट्यूटर हूँ। कल आया हूँ।

वह स्त्री, जिसका नाम इन्दिरा था और जो सर कृष्णकुमार की पत्नी थी, बोल उठी—अजीब बात है! खैर, अनीता, तुम मास्टर

साहब को चाय दो और मैं इनसे बातें करती हूँ! मास्टर, आप आगये यह बड़ा अच्छा हुआ। मैं समझती हूँ, हम लोगों के साथ आपका निभ जायगा।

यह कहकर इन्दिरा चुप हो रही और कुर्सी पर उठँग पड़ी। दीनदयाल को मालूम था कि वह लगभग पैंतालीस वर्षों की है, पर कोई दूसरा देखता तो उसे सहज ही दस-पन्द्रह वर्ष कम की ही आयु का समझता। वह गोरी थी। बोलने के समय उसके हाथ हिलते रहते थे। यह स्पष्ट प्रकट हो रहा था कि कभी वह बड़ी प्रेमी स्वभाव की रही होगी, उसकी हर गति से, बोलने के ढंग से, वेश-भूषा से, उसकी मुखमुद्राओं से यह झलक रहा था। उसने अपने लिए एक दम कप में चाय उँडेली, फिर कहा—यही मुझमें एक खराबी है। मुझे पाँच बजे के क़रीब चाय जरूर चाहिए। सभी बड़े आदमी .....।

अनीता ने बात काटकर कहा—मास्टर साहब, माता जी आत्म-कथायें आदि बहुत पढ़ती हैं!

इन्दिरा—मैं आत्मकथायें इसलिए पढ़ती हूँ कि मुझे बड़े आदमियों के चरित्र बड़े अच्छे लगते हैं। मैं खुद उनके क़दमों पर चलना चाहती हूँ। पर आज, अफ़सोस है कि बड़े आदमियों का एकदम अभाव है। आज के लोगों में बिलकुल बुद्धि नहीं है, कोई उमंग नहीं, कोई ... आज के लोग तो बस तीन बातें जानते हैं, रुपया, हत्या और नियमित जीवन व्यतीत करना। मास्टर साहब, आज की दुनिया एकदम साधारण हो गई है, रहने लायक़ नहीं रह गई है। इसी लिए मैं आजकल सबसे अलग रहती हूँ, अकेले अपने कमरे में बैठी पढ़ती रहती हूँ। अनीता बेटी, तुम जरा मास्टर साहब का खयाल रखना, इन्हें कभी-कभी ठीक समय पर खाना वग़ैरह मिल जाया करे।

वह चुप होकर फिर चाय पीने लगी। चाय समाप्त होने पर वह उठी और कहा—जीवन, प्रेम और प्रसन्नता ये सब बड़ी अनिश्चित वस्तुएँ हैं। गम्भीर अंधकार में प्रकाश की हलकी रेखाओं के समान ये वस्तुएँ दैवाधीन हैं।

यह कहकर वह धीमे मुसकराई और सीढ़ियों पर चढ़कर ऊपर चली गई। उसके जाने के वाद अनीता ने कहा—यही मेरी माता जी हैं! उन्होंने आपको पसन्द कर लिया है, यह में कह सकती हूँ!

पर, आश्चर्य है कि इन्दिरा ने रामकुमार का कोई ज़िक्र नहीं किया!

चार

पन्द्रह दिन व्यतीत हो गये । कोई खास बात नहीं हुई । कहीं से न तो कोई आया और न कहीं कोई गया, जैसे इस परिवारवालों को कहीं कोई नाते-रिश्तेदार भी नहीं हैं। कभी इस घरवाले किसी बाहरी आदमी की बात तक नहीं करते थे। परिवार के इने-गिने प्राणी अपने में ही बन्द, अपने से ही सरोकार रखते हुए चल रहे थे। अपनी छोटी-सी दुनिया में सीमित ये कुछ जीव अपने ही हास-रुदन, सुख-दुख से परितृप्त जान पड़ते थे। दिन बीतते जाते थे, कभी-कभी डाक से आये हुए अखबार दीनदयाल को बाहरी दुनिया से थोड़ा-बहुत परिचित कराते रहते थे। वे अपना बहुत-सा समय अनीता के साथ बिताते क्योंकि परिवारवालों में एक वही अकसर उनके सामने आती। कभी-कभी वह भी न जाने क्यों किसी विचार में उलझ जाती और कहीं अलग बैठकर कुछ सोचने-विचारने लगती। उस समय दीनदयाल का समय कटना कठिन हो जाता।

लेकिन रामकुमार की पढ़ाई ठीक-ठीक चलती रही। वह पढ़ने में बहुत तेज़ था और किसी विषय में मन लग जाने पर वह उसे जल्दी सीख भी लेता। दीनदयाल उसे सब विषय इस तरह सिखाते कि उसकी तबीअत उनमें लग जाती। बालक रामकुमार दीनदयाल के इस गुण के कारण उन्हें बहुत मानने लगा। प्रतिदिन संध्या-समय दीनदयाल उसे पढ़ाते।

इसी बीच एक घटना घटी जिससे दीनदयाल को पता लग गया कि इन्दिरा ज़रूर पागल है। जिस दिन इन्दिरा से उनसे भेंट हुई थी उसके बाद दस दिन तक फिर उन्होंने उसे नहीं देखा। एक दिन जब वे बाग़ में यों ही घूम रहे थे, उन्होंने देखा कि इन्दिरा एक कोने में बैठी हुई है। वह दीनदयाल को एकदम भूल गई थी। उसने इन्हें देखकर

अपनी सहज मुसकराहट से कहा—मैं समझती हूँ, आप यह मकान देखने आये हैं। ज़रूर देखिए, यह देखने ही लायक़ है।

दीनदयाल घबराये, यह कैसा प्रश्न है! उन्हें ताज्जुब हुआ कि इन्दिरा इस तरह का प्रश्न क्यों कर रही है। फिर उन्होंने सोचा, महेशनारायण ने कहा था, गृह-पत्नी कुछ-कुछ पागल हैं! उन्होंने बताया कि वे कौन हैं और अपने पहले के भेंट की याद दिलाई। इन्दिरा ने सब सुनकर जैसे कुछ समझा, कहा—मास्टर, मुझे माफ़ करें। मुझे यह सब भूल गया था। सच बात तो यह है कि मैं दुनिया के साथ व्यवहार करने की यह छोटी-छोटी बातें भूल गई हूँ। आप आश्चर्य करेंगे, मैं आजकल शायद ही किसी से बोलती होऊँ। देखिए, आज बाग़ कितना मनहर लग रहा है!

बातें करते हुए उसकी आँखें दीनदयाल की आँखों से मिलीं। उन्होंने देखा—वार्द्धक्य की छाया उनमें जड़ीभूत होकर बैठी हुई है। आशा की ज्योति उनकी बुझ चुकी है और मुख पर का सौन्दर्य किसी अतीत के स्वप्न की याद दिला रहा है! पन्द्रह मिनट तक इन्दिरा उनके साथ बाग़ में घूमती रही, फिर एकाएक उनका साथ छोड़कर चली गई। बिना कुछ कहे अथवा बिना कुछ सुने उसके इस तरह चले जाने से दीनदयाल को और भी आश्चर्य हुआ! इस घटना के तीन दिन बाद एक रात को दीनदयाल जब अपने कमरे में कपड़े उतारकर सोने जाने की तैयारी कर रहे थे, द्वार पर एक खटखटाहट हुई। उन्होंने द्वार खोलकर देखा, अनीता है! वह एक हरी सारी पहने हुए थी और हाथ में काग़ज़ का एक पंखा लिये हुए थी। गर्मी ज्यादा पड़ रही थी। उसने भीतर आते ही पूछा—मैं आपका कुछ हर्ज तो नहीं कर रही हूँ?

दीनदयाल—बिलकुल नहीं, आइए, बैठिए। दो दिन से आप दीख भी नहीं पड़ीं।

वह एक खुली खिड़की के पास जाकर कुर्सी पर बैठ गई। कहा—मैंने सुना है, आपसे माता जी से कुछ दिनों पहले भेंट हुई थी और वे आपको भूल गई थीं। क्या यह सच है?

दीनदयाल—हाँ, सच है।

थोड़ी देर रुककर अनीता ने फिर कहा—मुझे आप यह बताइए कि क्या दुनिया में आजकल सनकियों की संख्या बढ़ रही है?

दीनदयाल—मैं तो यही समझता हूँ।

अनीता—मैं भी यही समझती हूँ पर क्या आप इसकी वजह बता सकते हैं?

दीनदयाल थोड़ी देर सोचते रहे, फिर कहा—अभी उस दिन मैं एक पुस्तक पढ़ रहा था। उसमें लिखा हुआ था कि सभ्यता और कुछ नहीं है, संस्कारों की प्राप्ति का एक सफल साधन है। मैं समझता हूँ, अब उस साधन पर ज्यादा भार बढ़ रहा है। घटनायें, विचार, आदर्श और कल्पनायें आजकल हमारी चेतना पर निरन्तर आघात पहुँचाते रहते हैं। हमारे मस्तिष्क समूची दुनिया को आज अपने में समाये हुए हैं। विज्ञान ने सारी शान्ति हर ली है। नतीजा यह हुआ है कि हमारी आधी प्राण-शक्ति दुनिया के कर्म-कोलाहल के साथ-साथ चल पाने में समर्थ हो सकने में व्यय हो जाती है। यह संसार प्रतिदिन एक विशाल कारखाना बनता जा रहा है। इस भग-दौड़ और प्रतियोगिता के युग में जो हार जाते हैं, साथ-साथ क़दम मिलाकर चल नहीं पाते उन्हें ही दुनिया पागल और सनकी कहती है। फिर भी . . . . ।

वे चुप हो गये पर अनीता ने पुनः उत्साह दिलाया। कहा—कहे जाइए, कहे जाइए। आपकी बातें बड़ी अच्छी हैं। मैं जो आपसे कहने-वाली हूँ उसकी यह भूमिका है।

दीनदयाल ने कहा—मैं यही कह रहा था कि शायद ऐसे सनकी और पागल लोग इस युग के सच्चे प्रतिनिधि हैं क्योंकि वे इससे भली भाँति परिचित हैं।

अनीता ने धीरे से कहा—आपकी बात बिलकुल ठीक है। फिर भी यह आश्चर्य है कि मा आपको भूल गईं—उन्होंने आपको पसन्द भी किया था।

वह अधीरता से उठी और किताबों की आलमारी के पास जाकर

खड़ी हो गई। वहीं से उसने पूछा—आपको सोने को देर तो नहीं हो रही है? मुझे आपसे बहुत कुछ कहना है।

दीनदयाल—नहीं, नहीं। गर्मी के कारण नींद भी तो नहीं आयेगी!

अनीता फिर खिड़की के पास की कुर्सी पर बैठ गई। थोड़ी देर तक वह सामने की ओर देखती रही। दीनदयाल को लगा जैसे वह आज किसी खास मतलब से आई है। यह भी स्पष्ट था कि वह अपने विचारों को नियंत्रित नहीं कर पा रही है। उसने कहा--शायद मुझे कहीं बाहर जाना पड़े, इसलिए अच्छा होगा कि मैं आपको अपने परिवार के बारे में कुछ बातें बता दूं। यह ज़रूरी है, नहीं तो आगे चलकर बहुत संभव है, आपको यहाँ कुछ असुविधा या भ्रम हो। पर मुझे बड़ी लम्बी कथा कहनी है, जब आपका जी ऊबने लगे तो कृपया रोक दीजिएगा।

दीनदयाल—आप तो बड़ी रहस्यमयी बातें कर रही हैं।

अनीता—हाँ। मेरी बात का सम्बन्ध भी एक रहस्य से है। जो मैं आपसे कह रही हूँ वह बरसों के विचार-मंथन और खोज का परिणाम है। यह अजीब-सा लगता है पर बात सही है। हां, तो कहाँ से शुरू करूँ? अच्छा होगा, उसी रहस्य से आरम्भ करूँ! पाँच बरस पहले पिता जी में एक भारी परिवर्तन हो गया--इस परिवर्तन ने उनके और हमारे जीवन की सारी गति-विधि ही बदल दी। कम से कम, मुझे तो ऐसा ही लगता है। लोगों ने इस परिवर्तन के अजीब-अजीब कारण सोचे पर मैंने कुछ खास नहीं सोचा।

पलभर चुप रहकर अनीता ने फिर कहा—इस परिवर्तन के पहले की हमारी ज़िन्दगी का हाल जब तक आपको न मालूम हो जाय तब तक परिवर्तन की बात आप पूरी तरह न समझ सकेंगे।

वह कुर्सी पर उठँगकर ज़ोरों से हँसने लगी। दीनदयाल कुछ बोले नहीं। कुछ समय ऐसे होते थे जब दीनदयाल उसके सौन्दर्य के जादू में इतने उलझ जाते थे कि उनसे कुछ बोलते नहीं बनता था। यह समय भी ऐसा था, हँसने से उसके गोरे भरे गालों में जो गढ़े पड़ गये थे उनमें दीनदयाल का मन फँसकर रह गया था। वे चुप ही

रहे। मन ही मन सोच रहे थे कि जब यह चली जायगी तब यह हास्य की निर्मल धारा कहाँ देखने को मिलेगी !

अनीता ने हँसी समाप्त कर कहा—पिता जी जब इक्कीस-बाइस वर्ष के थे, तभी उन्हें सर की टायटिल मिली। उस समय वे सभी सामाजिक गुणों के संग्रह थे । वे बड़े सुन्दर, धनी, कसरती थे। वे मालती मा को प्यार करते थे जो बहुत सुन्दर थी। . . .

दीनदयाल ने बात काटकर कहा—जिनका चित्र आपने मुझे दिखाया था ?

अनीता—हाँ। वह तसवीर महेन्द्र जी की बनाई हुई है। उनके बारे में आगे कहूँगी। खैर, पिता जी इक्कीस वर्ष की आयु में ही बड़े विख्यात हो गये थे। सब लोग उन्हें जानते थे, उनकी इज़्ज़त करते थे। उसी समय उन्होंने विवाह किया और सालभर बाद मेरे सौतेले भाई उपेन्द्र उत्पन्न हुए। पर पिता जी का यह सुख अधिक दिनों न चल सका, मालती मा मर गईं।

अनीता ने एक पैर के ऊपर दूसरा पैर चढ़ाते हुए कहा—मेरी बातें, कहानी-सी लगती हैं न ? खैर, मैं आपको शुरू से सब बातें बता देना चाहती हूँ। मालती मा की मृत्यु से पिता जी को बड़ा आघात पहुँचा। वे मेरे भाई उपेन्द्र को लेकर यहाँ वर्षों बिलकुल अकेले रहे। किसी से मिलते-जुलते नहीं थे। उपेन्द्र के लिए जो दाइयाँ रक्खी जाती थीं वे घबराकर भाग-भाग जाती थीं । पिता जी ज़रा-ज़रा से काम की देखभाल भी खुद करते थे। उपेन्द्र को वे प्राणों से अधिक प्यार करने लगे और अब भी करते हैं। आठ वर्ष तक वे इसी तरह रहे। इधर उपेन्द्र बड़ा हो रहा था, उसे पढ़ाना भी ज़रूरी था। उन्होंने सोचा, नगर भेजकर शिक्षा दिलाने से वे उससे अलग हो जायँगे। उन्होंने स्वयं फिर नगर में रहने का निश्चय किया। उसी समय मेरी मा इन्दिरा से उनका परिचय हुआ। महेन्द्र जी इनके पिता हैं, यानी मेरे नाना हैं। मेरी मा उनकी एकमात्र सन्तान थीं, नानी की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। मेरी मा बहुत कुछ मालती मा से मिलती-जुलती थीं तभी पिता जी का इनकी ओर आकर्षण हुआ। महेन्द्र जी बड़े अच्छे चित्रकार थे,

चित्रकार के नाते उनकी बड़ी ख्याति थी पर जिस समय का मैं जिक्र कर रही हूँ उस समय उनका स्वभाव बड़ा उग्र हो गया था और वे बहुत शराब पीने लग गये थे। उनका संग-साथ भी अच्छे-अच्छे विद्वानों से था, वे ही लोग उनके मित्र थे। चौदह वर्ष की आयु से ही मेरी मा को इनका साथ मिला, शुरू से ही इन पुस्तक-प्रेमियों और विद्वानों का प्रभाव उसके ऊपर पड़ा। मेरे दादा के ये मित्र मेरी माता जी को चाहते भी बहुत थे, उसकी प्रतिभा से वे प्रभावित हुए। मेरी मा की पढ़ाई जल्दी ही खत्म हो गई क्योंकि नाना जी ने खर्च की कमी बताई। चौदह वर्ष की उनकी आयु हो गई थी फिर भी उनकी हमजोली कोई नहीं थी, इन बड़े आदमियों के साथ ही उसका जीवन व्यतीत होता था। भोली इतनी थीं कि अभी तक बनावटीपन और असलियत में भेद नहीं जानती थीं।

दीनदयाल ने कहा---आपकी बातें बिलकुल बुजुर्गों की-सी हैं। आपको देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि आप अभी बीस ही वर्ष की हैं।

अनीता---मैंने अपना बहुत-सा समय अकेले रहकर बिताया है। और आप जानते हैं, एकदम अकेले रहनेवाला आदमी विचारों में बहुत कुछ बूढ़ा हो जाता है। फिर एक बात और है। मैं कुछ अजीब लोगों के साथ रही हूँ और जीवन का व्यापक अनुभव किया है। हाँ, मैं क्या कह रही थी ?

दीनदयाल---आप अपनी माता जी की बात कर रही थीं।

अनीता---हाँ। माता जी मेरे पिता जी को, परिचय के पहले ही दिन से प्रेम करने लगीं। पिता जी रोज-रोज उनके यहाँ आने-जाने लगे। यह ठीक भी था। हर आदमी यह चाहता है कि उससे कोई सुन्दर स्त्री प्रेम करे। क्यों न ?

दीनदयाल को शर्म मालूम हुई। अनीता उनकी ओर देख रही थी। उन्होंने इतना ही कहा---हाँ, ठीक है।

अनीता---यह बिलकुल ठीक है। आदमी की चाल तक इससे बदल जाती है। पिता जी ने माता जी से विवाह का प्रस्ताव किया और...।

दीनदयाल उठकर कमरे में टहलने लगे। अनीता ने पूछा---क्या हुआ ? यों उठकर टहलने क्यों लगे ?

दीनदयाल—मैं सोच रहा हूँ कि इतने दिनों पहले घटी हुई घटनाओं की जानकारी आपको कैसे हुई। उस समय तो आप पैदा भी नहीं हुई थीं !

अनीता—जानकारी कैसे हुई ? मैं तो इन बातों को सैकड़ों बार सुन चुकी हूँ। आप हम लोगों को नहीं जानते तभी ऐसा कह रहे हैं। हमारे यहाँ कोई बात छिपी हुई नहीं है। इन बातों पर हम अकसर बातें करते हैं।

दीनदयाल पुनः आकर अपनी कुर्सी पर बैठ गये और एक सिगरेट सुलगा ली। इतनी रात गये तक अकेले कमरे में बैठकर एक पर-पुरुष से बातें करने के लिए अनीता पर हमारे पाठक यदि कुछ संदेह करना चाहें तो हम उन्हें यही उत्तर दे सकते हैं कि वे सन्देह न करें। अनीता इसकी अभ्यस्त थी, फिर, सर कृष्णकुमार के परिवार में ये बातें कुछ असाधारण नहीं समझी जाती थीं। अनीता आगे कहने लगी—कुछ महीनों के बाद पिता जी और माता जी का विवाह हो गया। वे यहाँ चली आईं। उधर, साल भर के अन्दर ही, शराब की अधिकता से मेरे नाना ने अपनी मृत्यु बुला ली। विवाह ने माता जी को पिता जी की सेवा का अनुपम अवसर दिया। वास्तव में, वे इसके अतिरिक्त और कुछ कर भी नहीं सकती थीं। यह मत समझिए कि मैं उनकी बुराई कर रही हूँ। उन्हें बुरा बताना मेरा मतलब नहीं है, पर मैं सच्ची बात ही कह रही हूँ। वे और किसी योग्य नहीं थीं, घर-गृहस्थी कर ही नहीं सकती थीं इसी लिए सब ही उनसे अप्रसन्न रहते थे।

दीनदयाल को अब इस कहानी में रस मिल रहा था। साथ ही उन्हें यह भी आश्चर्य हो रहा था कि यह युवती क्यों इस तरह अपने पारिवारिक भेद मुझ अजनवी पर खोल रही है। इसमें क्या रहस्य है ? एकबार उन्होंने यह भी चाहा कि साफ़-साफ़ उससे कह दें, मैं तुम्हारे परिवार की निजी बातों को नहीं सुनना चाहता, उनसे मुझसे क्या काम है ! मैं तो यहाँ एक लड़के को पढ़ाने आया हूँ, बस इतने से ही मुझसे काम है। पर, दूसरी ओर अनीता का जादू उन पर चल गया था। वे जानते थे, जब तक यह कहानी चल रही है तभी तक वह

यहां बैठी है। इसी कहानी के बहाने यदि ज़्यादा से ज्यादा देर तक उसका सामीप्य प्राप्त किया जा सके तो हानि ही क्या है! उन्होंने पूछा—पर क्या इस विवाह से तुम्हारे पिता जी प्रसन्न हुए?

अनीता—मैं ऐसा नहीं समझती। जल्दी ही उन्हें अनुभव हो गया होगा कि उनका विवाह एक भावुकताजन्य आवेश का परिणाम है। उन्होंने तब माता जी से वही व्यवहार करना शुरू किया जो अधिकतर पति अपनी स्त्रियों से करते हैं। यानी, मन न मिलने पर भी पत्नी को निभाये जाना, उसके साथ साधारण कर्त्तव्य का व्यवहार करते जाना, उसकी सेवाओं को स्वीकार करते जाना। उन्होंने सोचा, शायद एक सन्तान हो जाने पर माता जी कुछ सँभलें, कुछ ज़िम्मेदारी समझें और उनका तौर-तरीक़ा कुछ ठीक हो, उनमें परिवर्तन हो जाय। पर ऐसा नहीं हुआ। दो सन्तानें हुईं पर माता जी का स्वभाव ज्यों का त्यों रहा। मालूम होता था, अनुभवों का उन पर कुछ असर नहीं पड़ता। अब भी उनका स्वभाव वैसा ही है। पर इसमें उनका कुछ दोष नहीं है। पिता जी दूसरे तरीक़ों से अपना सन्तोष ढूँढ़ने लगे। वे स्थानीय राजनीति और सभा-सोसाइटियों में अपना अधिकांश समय व्यतीत करने लगे। इस तरह घर का असन्तोष भूले रहते थे। वे विख्यात तो थे ही। मेरा भाई उपेन्द्र उन दिनों की बातें मुझे अकसर सुनाता है।

दीनदयाल—वे आपसे कितने बड़े हैं?

अनीता—तेरह वर्ष, और तभी उन्हें उन दिनों की बातें अच्छी तरह याद हैं। इसी तरह सब कुछ चलता रहा। १९२४ में रामकुमार पैदा हुआ और दो बरस बाद वह दुर्घटना हुई जिससे उसका पैर बेकाम हो गया। यह नहीं कहा जा सकता कि दुर्घटना के लिए कौन ज़िम्मेदार था, रामकुमार की दाई या माता जी। पिता जी जैसे पागल हो गये—वह रामकुमार को प्राणों से अधिक प्यार करते थे। माता जी और पिता जी में इस घटना को लेकर काफ़ी कहा-सुनी हुई। क्या हुआ, यह तो नहीं कहा जा सकता पर दूसरे ही दिन वह दाई निकाल दी गई और पिता जी बिना कुछ कहे-सुने कहीं बाहर चले गये और महीनों नहीं लौटे। वे पत्र भी नहीं भेजते थे, कोई यह भी नहीं जानता था

कि वे कहाँ हैं। माता जी बहुत उदास रहने लगीं, कहा करती थीं कि उनका सुख समाप्त हो गया। अब उनके लिए दुनिया में कुछ नहीं रह गया। फिर एक दिन एकाएक पिता जी लौट आये। तभी वह परिवर्तन हुआ जिसे मैं कहनेवाली थी।

यहाँ अनीता थोड़ी देर रुकी। दीनदयाल चुपचाप उसकी ओर देखते रहे। थोड़ी देर बाद उसने फिर कहा——वे लौट आये। सब नौकरों को निकाल दिया, अपनी सभी क़ीमती चीज़ें बेच दीं, सब सभा-सोसाइटियाँ छोड़ दीं। माता जी से कहा कि वे शहर में जाकर एक मकान किराये पर लेकर रहेंगे। उन्होंने अपने पहले के जीवन को बिलकुल परिवर्तित कर दिया और बिलकुल चुप रहने लगे। किसी को इस परिवर्तन का कोई कारण भी नहीं बताते थे। तब से वे शहर ही में एक मकान में रहते हैं और यहाँ केवल एकबार ही आये हैं। उनके बारे में दो-एक अफ़वाहें भी फैली हुई हैं।

दीनदयाल——आपकी माता जी पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?

अनीता——वे तब से एकान्त में पुस्तकें पढ़ती रहती हैं और अपने ही में मगन रहती हैं। अब मेरी बात सुनिए। सोलह वर्ष की आयु में मेरी पढ़ाई छूट गई और मुझे यहाँ माता जी के साथ अकेले रहना पड़ा। सब कुछ तहस-नहस हो गया था, आस-पास के लोगों ने और नाते-रिश्ते के लोगों ने हमारा साथ छोड़ दिया, उन्हें पिता जी के रहन-सहन का ढंग पसन्द नहीं था। मैं कभी-कभी पिता जी से मिलती भी रहती थी, वे मुझे बहुत चाहते थे, और उनके साथ शहर के मकान में रहती भी थी।

एक मिनट रुककर उसने हँसकर कहा——यही मेरे घर का इतिहास है!

दीनदयाल ने पूछा——तो क्या अब इस इतिहास में परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है? हमेशा ही ऐसा रहेगा?

अनीता——कोई चीज हमेशा कभी एक-सी नहीं रहती। कुछ न कुछ निपटारा तो होगा ही। आपको मैंने यह सब इसलिए बता दिया कि आप कभी किसी ग़लतफ़हमी में न पड़ें। आपको यहाँ रहना है, यहाँ

की अव्यवस्थित दशा देखकर, संभव है, आपको कभी कोई भ्रम हो जाता। आप अँधेरे में न रहें, इसलिए आपको इतनी जानकारी करा दी है। आपको भी यहाँ आते समय महेशनारायण ने यह बता दिया था कि आप एक डूबती नाव पर चढ़ने आ रहे हैं। क्यों न?

वह खिड़की के पास जाकर खड़ी हो गई। दीनदयाल भी उठकर उसके पास जा खड़े हुए। अनीता ने धीरे से, बाहर के अन्धकार की ओर उँगली उठाकर कहा—कभी यह सब बाग़, यह सब पेड़ आदि व्यवस्थित और सुन्दर लगते थे। समूचा घर स्वर्ग-सा जान पड़ता था। आदमियों की भीड़ लगी रहती थी और रातों को, खिड़कियों से निकलता हुआ प्रकाश बाहर के अँधेरे को उजला बनाता रहता था। कैसा सुन्दर वह सपना था!

कुछ मिनटों बाद वह चली गई। दीनदयाल ने सोने की चेष्टा की पर बड़ी देर में उन्हें नींद आई।

पाँच

इतने विश्वास के साथ और इतनी उदारता से दीनदयाल को अपने परिवार का गुप्त भेद बताने में अनीता का क्या उद्देश्य था, यह तो वही जाने, पर इससे दो बातें जरूर हुईं। एक तो सर-परिवार में दीनदयाल की दिलचस्पी बहुत बढ़ गई और दूसरे, अनीता का उन पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव किस सीमा तक पहुँच गया है यह दीनदयाल उस समय न जान सके पर यह वे मन ही मन स्वीकार करते थे कि यह प्रभाव अनीता के सौंदर्य के कारण ही है। अनीता सुन्दरी थी, इसमें संदेह नहीं। उसकी उपस्थिति में साधारण से साधारण वस्तु असाधारण और सुन्दर लगती थी। यही सौंदर्य की विशेषता है। यह जादू से भी अधिक आकर्षण है। सुन्दर लोग जादूगर होते ही हैं, सारी दुनिया उनकी उपस्थिति में लोगों को सर्वथा नवीन और सुन्दर जान पड़ती है। कोई वस्तु सामान्य और तुच्छ नहीं होती, सब कुछ प्राणमय, सजीव और संगीतमय होता है!

अनीता के अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव की बात सोच-सोचकर वे अभी आनन्दित हो ही रहे थे और सर-परिवार के रहस्यमय वातावरण को सुलझाने की चेष्टा में मन ही मन वे उलझे ही हुए थे कि एक और घटना हो गई। एक दिन दोपहर को रामकुमार को पढ़ा चुकने के बाद वे ऊपर अपने कमरे में जा रहे थे कि नीचे के हाल से अनीता के पुकारने की आवाज आई। वे आये तो अनीता ने कहा—मास्टर साहब, मेरे भाई कनककुमार आज आये हैं। ये हैं......।

दीनदयाल ने देखा, एक युवक उत्तेजित अवस्था में वहाँ खड़ा है और पास ही, अनीता के ही आयु की एक युवती। कनककुमार कहकर, भाई बताकर जिसका परिचय दिया गया था, वह इस समय दीनदयाल को अपनी आँखों से खाये जा रहा था। उसकी आयु लगभग चौबीस वर्ष की थी, आँखें सटी सटी-सी थीं और वह काफी भड़कीले वस्त्र

पहने हुए था। उसने उसी दशा में अनीता की ओर घूमकर देखा, पूछा—ये महाशय कौन हैं?

अनीता—रामकुमार के नये ट्यूटर हैं। वह इन्हें मानता भी बहुत है और ये बिना कुछ लिये काम कर रहे हैं।

दीनदयाल को खयाल आया, अनीता ने कभी बात ही बात में बताया था कि उसे और भाई-बहन हैं जो बाहर रहकर स्कूल में पढ़ते हैं। शायद यह कनककुमार वही भाई होगा। कनककुमार ने दीनदयाल को नमस्कार करते हुए कुछ कहा जो वे सुन नहीं सके। शायद वही सदा का अनुभूत वाक्य रहा होगा—'आपसे मिलकर बड़ी खुशी हुई।' अनीता ने यह भी बताया था कि कनककुमार कहीं नौकरी करने लगा और उसकी बहन किसी एक व्यक्ति के साथ कहीं चली गई है। दोनों विवाह करना चाहते थे, पर परिवार के विरोध के कारण ऐसा न हो सका। तभी उसे छिपकर कहीं भागना पड़ा। मा को और पिता जी को इससे बड़ा आघात पहुँचा, फिर भी परिवार की प्रतिष्ठा के नाम पर इस घटना को बहुत गुप्त रक्खा गया, और इने-गिने लोग ही इस बात को, अब धीरे-धीरे, जान सके हैं। बहन तब से अब तक कभी यहाँ आई नहीं और सम्भव है, कभी न आवे। दीनदयाल यह सब सोच ही रहे थे, तभी अनीता ने उस युवती की ओर घूमकर कहा—और मास्टर साहब, ये हैं मेरी बहन मीना, जिनके बारे में मैंने आपसे कहा था। ये भी आज ही आई हैं।

फिर, दीनदयाल की ओर मुड़कर ऐसे कहा, जैसे उन्हें ही सुनाना चाहती हो—देखिए, अब क्या होता है? यह मिलन प्रेम-मिलन नहीं, बल्कि घृणा का है। महीने में एकबार ऐसा ज़रूर होता है।

दीनदयाल को रहस्य में उलझा देने के लिए इतना कहना पर्याप्त था। ज्यों-ज्यों वे सर-परिवार के सम्पर्क में ज्यादा आते त्यों-त्यों उस परिवार को लेकर उनकी उलझन बढ़ती जाती थी। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति उन्हें एक अजीब रहस्यमय पहेली लगता और वे कभी-कभी सोचते, वे किस चक्र-व्यूह में आकर फँस गये हैं। यह नहीं कि इस व्यूहभेदन की ओर उनकी प्रवृत्ति न हो, पर जहाँ ज़रा भी वे किसी

समाधान तक पहुँचते, तुरन्त ही एक दूसरी समस्या उनके सामने उठ खड़ी होती।

मीना टेबुल के पास की कुर्सी पर बैठ गई थी। देखने से यही लगता था जैसे वह सर-परिवार की प्राणी न हो। पांडुरवर्ण की उस युवती के शरीर पर चाहे कैसा भी वस्त्र क्यों न हो, लगता था कि उसका सौंदर्य मारा जायगा। उसके हाथ-पाँव बड़े बड़े थे, और उसकी आँखें उसके रूखे और कठोरावृत्त मुख से जैसे बाहर निकली पड़ती थीं। दीनदयाल को ऐसा मालूम हुआ जैसे उसकी उपस्थिति अनुपस्थिति की ओर से मीना एकदम उदासीन है।

कमरे में एकदम सन्नाटा छाया हुआ था!

दीनदयाल ने कहा—अच्छा, तो मैं चलता हूँ। यहाँ ....।

अनीता ने विरोध किया—नहीं। आप यहीं रहें और देखें कि क्या होता है। हालांकि यह ठीक नहीं है और इससे कोई फ़ायदा भी नहीं है, पर इसमें कोई हर्ज भी नहीं है।

कनककुमार ने जैसे बहुत परेशान होकर कहा—पर अनीता, यह तो सोचो। हम कैसे उस बात को तय करेंगे। इनके सामने ...।

अनीता—क्यों ?

मीना ने क्रुद्ध स्वर में अधिकार-भरे ढंग से कहा—अनू, बेवक़ूफ़ी न करो। तुम्हें ज़रा भी तमीज़ नहीं है!

अनीता ने जैसे उनकी बात सुनी ही न हो, दीनदयाल की ओर घूमकर कहा—ये दोनों आज लड़ने के ही लिए जैसे उतारू होकर आये हैं। इन्होंने पिता जी के बारे में कुछ नई बात सुनी है कि वे किसी स्त्री, यानी ज्योति ......।

अनू! अनीता!—मीना एकदम बम की तरह फट पड़ी, पर जैसे अनीता पर उसका कुछ असर ही न हो, वह कहती गई—यानी ज्योति नाम की किसी स्त्री के साथ पिता जी का मेल-जोल ज्यादा बढ़ रहा है। भाई इसका विरोध इसलिए कर रहे हैं कि यह सुनकर लोग क्या कहेंगे, यह ठीक नहीं है। बहन मीना कहती हैं कि यह अनैतिक है। हम लोग यही सोच रहे हैं कि सब मिलकर पिता जी से इस बात का विरोध करें,

पर ये लोग यह जानते हैं कि पिता जी के सामने पड़कर किसी का मुंह न खुलेगा, भय के मारे सब चुप रह जायँगे। इसी बात से इन्हें ग़ुस्सा आ रहा है।.........

कनककुमार का धैर्य जाता रहा। उन्होंने जैसे अनीता को ढकेलते हुए दीनदयाल से कहा—देखिए मिस्टर दीनदयाल, अब तक आप यह तो समझ ही गये होंगे कि हमारा परिवार कुछ विचित्र-सा है, पर भगवान् को धन्यवाद है कि मेरा दिमाग़ खराब नहीं हुआ है। अगर मैं यह जानता कि आप यहाँ रहते हैं तो शायद मैं खुद ही आपको सब कुछ ठिकाने से बता देता, पर अनीता ने तो मुझसे कहा ही नहीं कि रामकुमार के लिए कोई नया ट्यूटर रक्खा गया है।...

मीना ने बीच में ही कहा—मुझसे भी कभी नहीं कहा!

मीना की बात से और कहने के ढंग से ऐसा मालूम हुआ गोया कनक से न कहना कोई बड़ी बात नहीं, पर उससे तो कहना ही चाहिए था!

अनीता ने जैसे गर्व से कहा—मास्टर साहब सब बातें जानते हैं। मैंने पिता जी के रहस्यमय परिवर्तन की बातें इन्हें बता दी हैं।

कनककुमार उबल पड़ा—पर मैं कहता हूँ, इसमें रहस्यमय कुछ नहीं है। रामकुमार के गिरनेवाली दुर्घटना के बाद ही तो उन्होंने मकान छोड़ दिया और उस स्त्री के लिए......।

मीना ने जैसे परेशान होकर बीच में ही काटते हुए कहा—कनक, बेकार वे बातें अब क्यों उभाड़ते हो? सभी जानते हैं कि यह तुम्हारे दिमाग़ की उपज है। तुम्हें तो इसी बात की चिन्ता है कि उन्होंने तुम्हें आगे क्यों नहीं पढ़ाया, यूनिवर्सिटी क्यों नहीं भेजा! तुम्हें तो बस, इसी बात पर ग़ुस्सा है!

कनककुमार ने वैसे ही ग़ुस्से में भरे रहकर मीना की ओर घूरते हुए कहा—और तुम्हें इसलिए ग़ुस्सा है कि पिता जी तुम्हारे उस गधे... के लिए तुम्हें काफ़ी रुपये नहीं देते। और...।

अनीता ने देखा, पिता जी के कार्य की आलोचना के बजाय वे दोनों आपस में ही लड़े पड़ रहे हैं। उसने उन्हें शान्त करने की चेष्टा करते हुए कहा—भगवान् के लिए तुम लोग चुप

रहो। पिता जी चाहे जैसे भी हों, जो कुछ भी करें, हम लोगों से बड़े हैं। जो बात है, उसे कीजिए। सवाल है ज्योति का। भाई, मान लिया जाय कि आप जो कुछ कह रहे हैं सब सोलहों आने सही है, पर किया क्या जाय ? तुम कर ही क्या सकते हो ?

कनककुमार ने गम्भीर होकर कहा—देखो अनू, तुम तो जानती ही हो कि नौकरी के सिलसिले में मुझे कैसे-कैसे लोगों से मिलना पड़ता है। वे अच्छे भी हैं, बुरे भी। वे जब पिता जी का नाम ले-लेकर हँसते हैं, मेरे परिचित उनके साथ मेरा सम्बन्ध जोड़कर उनका अपमान करते हैं तो क्या मुझे अच्छा लगता है ! मैं कैसे यह सब सह सकता हूँ ? तुम तो जानती ही हो, मुझे नौकरी इसी लिए मिल गई कि मैं उनका पुत्र हूँ, नहीं तो मुझमें अपने तईं क्या योग्यता थी ? अगर मेरी सामाजिक स्थिति अच्छी न होती तो शायद कोई मेरी बात भी नहीं पूछता, पर अब पिता जी अपनी स्थिति के साथ ही मेरी स्थिति भी चौपट कर रहे हैं। वे नित्य अपना धन लुटाते जा रहे हैं और इस तरह नरक की ओर बढ़ रहे हैं। तुम भी जानती हो, सब लोग जानते हैं कि ज्योति कैसी स्त्री है, वह उनका सब कुछ लूट लेगी। सब लोग उन पर हँसेंगे।

अनीता ने ज़ोर देकर कहा—कभी नहीं। ऐसा कभी नहीं होगा। वे ऐसा कभी न करेंगे। उन्हें पहचानना बड़ा कठिन है। जो लोग उनकी आलोचना करते हैं उनकी पहुँच के वे बाहर हैं, उनका दिमाग़ वहाँ तक पहुँच ही नहीं सकता।

मीना ने वैसे ही बैठे-बैठे कहा—तुम्हारा मतलब मुझसे तो नहीं है ?

अनीता—ख़ास तुमसे ही मेरा मतलब नहीं था, पर तुम सबसे अलग थोड़े ही हो ! तुम लोग कोई जानते ही नहीं कि पाँच बरस पहले उन्हें क्या हुआ, या वे क्या करना चाहते हैं, या उन्हें क्या हो गया है ! कोई कुछ भी नहीं जानता। वे साधारण श्रेणी से अलग हैं।

जितना हम उपेन्द्र को जानते हैं, उतना ही हम उन्हें भी पढ़ सके हैं। वे कुछ भी हों, कैसे भी हों, हम उनकी कुछ आलोचना कर ही कैसे सकते हैं, जब कि उन्हें पूरी तरह हम पा ही नहीं सकते!

कनककुमार ने निराशा से दीनदयाल की ओर देखते हुए कहा—ओह, उपेन्द्र की बात छोड़ो। मिस्टर दीनदयाल, हमारे यहाँ यही तो मुसीबत है कि कोई ठीक बात करता नहीं—करना चाहता नहीं—सब अपने-अपने विचार बनाते हैं। सभी यहाँ ऐसे हैं, तभी तो यह गड़-बड़ी है। बेकार की बातें—कल्पनायें—सपने! हिश, न जाने, सबको क्या हो गया है? भगवान् ही जानें! मैं तो शहर से इसलिए आया था कि कुछ निर्णय करूँगा, पर यहाँ....।

मीना अनीता की ओर घूमकर उससे जल्दी-जल्दी कह रही थी—तुम हमेशा पिता जी की ओर से ही बोलती हो, उन्हीं की तारीफ़ करती रहती हो। क्या वे हमारे पिता नहीं हैं? हमें क्या उनसे प्रेम नहीं है? पर जब वे ऐसी बातें करते हैं, जो...ख़ैर, तुम्हारी दृष्टि में तो वे कभी कोई ग़लत काम कर ही नहीं सकते। इसकी तुम्हें ज़रा भी परवाह नहीं है कि लोग हमारी हँसी उड़ाते हैं! उन्होंने सब दान-पुण्य छोड़ दिया है, धर्म त्याग दिया है, कोई नियम-बंधन नहीं मानते! तुम्हें इसकी चिन्ता नहीं है कि..कि..कि वह माता जी के प्रति विश्वासघात कर रहे हैं, कि वे...।

अनीता ने वैसे ही शान्त रहकर उत्तर दिया—हाँ, मुझे इसकी ज़रा भी चिन्ता नहीं है, रत्ती भर भी नहीं। मैं जानती हूँ, तुम्हें भी वास्तव में इस बात की चिन्ता नहीं है। ये बातें ऊपरी हैं, बहानेबाज़ी हैं। तुम उन्हें नहीं जानतीं, उनके उद्देश्य नहीं समझ सकतीं। जिस चीज़ का भय तुम्हें है, उसे ही बचाने के लिए तो वे खुद ही सबसे अलग जा पड़े हैं।

फिर उसने कनककुमार की ओर घूमकर कहा—और आप? आपको यह भय है कि वे नरक की ओर जा रहे हैं! यह तो होना ही है! हमसे आपसे तो यह भी नहीं हो सकता। टुकड़ों के लिए लड़नेवाले लोग बहादुरी से अपना जीवन भी नहीं दे सकते।

मीना और कनककुमार जितनी अधिक आलोचनायें सर कृष्णकुमार की करते, अनीता उतना ही उनकी ओर से बोलती जाती। पिता को अपने अन्य भाई-बहनों की कटु बातों से बचाने में इस समय उसकी सारी शक्ति खर्च हो रही थी। इतना ही नहीं, बल्कि उसका तीव्र विरोध और भी उग्र होता जाता था। क्योंकि मन ही मन वह समझती थी, पिता के कार्यों का तर्क-सम्मत कोई बचाव नहीं है। और चूँकि इस समय सब उन पर आक्रमण ही कर रहे थे अतः उसका कर्त्तव्य हो गया था कि वह उनको बचाने की भरसक चेष्टा करे। अपनी बातों से वह कनककुमार और मीना को निरुत्तर किये देती थी। दीनदयाल को लगता था कि उस जैसी पिता की भक्त शायद ही कोई पुत्री हो। बातों की तेज़ी में दीन-दयाल की उपस्थिति जैसे सब लोग भूल ही गये थे, यह जानकर उन्हें प्रसन्नता ही हुई। घर की इतनी गुप्त बातें इतनी स्वतंत्रता से और खुलकर उनके सामने हो रही थीं कि दीनदयाल को खुद ही ऐसा मालूम हुआ जैसे वे वहाँ उपस्थित नहीं हैं, किसी नाटक का कोई दृश्य, दर्शकों में बैठे हुए देख रहे हैं। उन्होंने यह भी देखा कि जब कृष्णकुमार के प्रेम को लेकर बातें होने लगतीं तब मीना बहुत परेशान-सी हो जाती, उस विषय पर बोलते समय जैसे उसका गला फँस जाता हो, वह हकलाने-सी लगती। किन्तु जब और बातें होने लगतीं तो उसकी ज़बान क़ैंची-सी चलती। बहस बढ़ती ही गई और उस सिलसिले में इन्दिरा का––मा का––नाम बार-बार आने लगा। यह किसी ने न सोचा कि हो सकता है, वह कहीं से यह सब सुन ले। कभी-कभी कनककुमार काफ़ी तेज़ आवाज़ में बोलने लगता। बात करते-करते आपस में ही इतना विरोध हो गया कि कोई किसी की बात मानने को तैयार नहीं होता था। मीना पिता का जो विरोध करती वह सब नैतिक दृष्टिकोण से, कनककुमार जो कुछ कहता वह केवल इसलिए कि उसे दुनिया की चिन्ता बहुत अधिक थी। केवल अनीता ही मर्मांकित रूप से बोलती थी और अपनी गम्भीरता बनाये हुए थी। भाई-बहन की बातों का विरोध वह भले ही तीव्र रूप में करती थी, पर इसमें अपना संतुलन खो नहीं बैठती थी, उसके अधरों के कोने पर हास्य की एक क्षीण

रेखा और नयनों में उनके प्रति स्नेह सदा झलकता रहता था। मालूम होता था जैसे कोई बहादुर सिपाही विपक्षियों का वार हँसकर सह रहा हो, जिसके मन में कोई कपट, कोई छल न हो, केवल कर्तव्य से प्रेरित होकर ही ऐसा कर रहा हो। बीच-बीच में उसकी हँसी से लोगों के क्रोध का बादल काई-सा फट जाता था। अपने भाई-बहन की तरह केवल आत्मप्रशंसा के लिए ही वह तर्क नहीं कर रही थी, अतः उसकी बातें दीनदयाल को निष्पक्ष और स्पष्ट लगतीं। उसकी जिन्दा-दिली उसके सौन्दर्य को द्विगुणित कर रही थी। अन्त में उसकी ही विजय हुई, कनककुमार गम्भीर होकर बैठ रहा और मीना ने मुँह फुला लिया जैसे उसे अब कुछ कहना शेष नहीं। तब अनीता विजय-गर्व से दीनदयाल की ओर घूमी और कहा—मैं नहीं जानती, क्यों आपको मैंने यहाँ इन बातों के वक्त रोक लिया, पर लगता है कि आप भी हमारे परिवार के ही सदस्य हैं।

काफ़ी देर तक वहाँ शान्ति रही। कनककुमार एक कुर्सी पर बैठ गया, सिगरेट सुलगा ली और चुपचाप अपने जूतों की ओर देखने लगा। मीना शायद कोई ऐसी बात सोचने लगी जिससे वह अनीता को निरुत्तर कर दे सके पर अनीता की उपस्थिति उसके सारे मनसूबों पर पानी फेर देती थी। वह खिझला गई थी। अनीता, छोटी बहन होते हुए भी, इस वक्त उस पर विजय पा गई थी।

कनककुमार का क्रोध कुछ-कुछ शान्त हो गया था। उसने, आखिर-कार, अनीता से कहा—तुम्हें यदि पिता जी ऐसे ही आदर्श व्यक्ति लगते हैं, देवता जान पड़ते हैं, तो क्या तुम बता सकती हो कि वे क्यों पाँच वर्ष पहले यों एकाएक सब कुछ छोड़ छाड़कर चल दिये और इस तरह का जीवन बिताने लगे?

अनीता ने जवाब दिया—शायद इस प्रश्न का मेरे पास कोई जवाब नहीं है। सम्भवतः उन बातों ने ही उनमें परिवर्तन कर दिया जिसके लिए नई पीढ़ी के लोग दोषी ठहराये जाते हैं।

मीना ने जैसे बीच में ही बात रोक ली। कहा—क्या मैं इसका मतलब जान सकती हूँ ?

अनीता ने जवाब दिया—इसका मतलब यही है कि युवकों-युवतियों के ऊपर जो दोष लगाया जाता है वह केवल बिगड़े दिमाग़ों की और औपन्यासिकों के मस्तिष्क की उपज है। उनमें दोष नहीं है, असल में बूढ़े लोगों का—पचास से ऊपर की आयु के लोगों का–दिमाग़ खराब हो गया है। इन युवकों-युवतियों में कौन होते हैं? बहुत गम्भीर, बहुत दीन और शोषित व्यक्ति ही होते हैं बिचारे! यह सच है कि ये बिचारे काम से घबराते हैं, आनन्द से जीवन व्यतीत करते हैं, पर अगर दो दिन भी लगातार इनके साथ रहकर देखा जाय तो पता चल जायगा कि यह आनन्द कितना महँगा है—कड़ुवा है! पर ये बूढ़े! इनको क्या कहा जाय! इन्हें शैतान के हाथ ही पड़ना है।

मीना—यह सब फ़िज़ूल बात है। आज का युवक...... ।

कनककुमार ने रोकते हुए कहा—ओह, मीना, पचास बार की दुहराई हुई बात फिर से न कहो।

और अनीता की ओर घूमकर कहा—तुम क्या कह रही हो?

अनीता—पचास से ज्यादा उम्र के बूढ़ों का अध्ययन करो और अखबारों को देखो। ये लोग या तो रुपये के पीछे दीवाने होते हैं या बहुत अहंकारी होते हैं या ये दोनों दुर्गुण इनमें होते हैं। उन्हें न तो अपने नाम की चिन्ता होती है और न अपने मित्रों की। रुपयों के लिए और अपने अहंकार के लिए ये सब कुछ कर सकते हैं। ये ही लोग हैं जो आनन्द के पीछे पागल रहते हैं, काम-पीड़ित होते हैं और रुपये पैदा करने के लिए लालायित होते हैं और ये ही लोग नौजवानों पर दोष आरोपित करते हैं। ये नहीं सोचते कि जो कुछ ये उन पर अपराध आरोपित करते हैं, उन्हीं अपराधों के अपराधी ये स्वयं होते हैं। यही वजह है कि इतना प्रदर्शन और ढोंग दीख पड़ता है।

थोड़ी देर बाद बातचीत बन्द हो गई। शहर जाने के पहले कनककुमार ने मकान घूमकर देखना चाहा और दीनदयाल को साथ चलने

को कहा। साथ-साथ चलते हुए उसने अपना तमाम रोना दीनदयाल से रोया। बाग़ के पास पहुँचकर उसने कहा—यह सब कितना अस्तव्यस्त पड़ा हुआ है! यह बाग़ देखिए! मुसीबत तो यह है कि हमारे पास सब कुछ है, फिर भी हम सब बरबाद करने पर तुले हुए हैं। मेरा तो खून खौल उठता है। अनीता को देखो! न जाने क्या करना चाहती है! यहाँ वक्त बरबाद करती है। इतनी बड़ी हो गई, इतनी योग्य है, फिर भी न जाने क्यों विवाह नहीं करती। क्या आप उसे कुछ समझा सकते हैं? इससे उसका भी भला होगा, परिवार का भी भला होगा?

छः

दीनदयाल की इस समय विचित्र परिस्थिति थी। सर-परिवार उनके लिए एक पहेली बन गया। उन्हें लगता था कि वह एक ऐसा नाटक देख रहे हैं जो ऐसी जगह पहुँचकर रुक गया है जहाँ से देखना छोड़कर उठना भी दर्शक के लिए कठिन है और देखना भी मुश्किल है। कभी-कभी ऐसा होता है कि सिनेमा-थियेटर देखने जाने पर हमें बैठने को सीट ही नहीं मिलती—इसी शशोपंज में खेल का बहुत-सा भाग वीत जाता है। ऐसे देखनेवालों को या तो आसपास के लोगों से पूछकर या अपनी बुद्धि पर भरोसा रखकर खेल का वह हिस्सा समझना पड़ता है। दीनदयाल की इस समय ठीक ऐसी ही दशा थी। बल्कि थोड़ी-सी भिन्नता ही थी। वे तो आसपास के लोगों से भी कुछ पूछ नहीं सकते थे। पल-पल पर उनके मन में यही बात आती थी कि वे इस परिवार के लिए बाहरी आदमी हैं। अनीता चाहे उन पर कितना ही विश्वास क्यों न करे, उन्हें कितना ही क्यों न माने, घर के और लोग भी अनीता की उपस्थिति में उसके भय अथवा संकोच के कारण उनके सामने कितना ही खुलकर क्यों न बातें करें, सब ठीक है पर अन्ततः वे हैं एक बाहरी ही व्यक्ति, एक अतिथि, एक अपरिचित ! इसी कारण इच्छा रहते हुए भी वे स्वयं किसी से कुछ पूछ नहीं सकते थे। अनीता जो कुछ उनसे कभी-कभी बतला देती थी, उसी पर उन्हें भरोसा करना पड़ता था। वे यह देख रहे थे कि इन लोगों को आर्थिक कष्ट है—बहुत तङ्गी है—पर साथ ही उन्हें यह देखकर भी आश्चर्य होता था कि आर्थिक कष्ट की बात उनकी अन्य समस्याओं के नीचे दब गई है। सबसे बड़ी बात यह थी कि सर-परिवार लोगों के सामने जितना ही खुलने की चेष्टा करता, उतना ही वह रहस्यमय होता जाता था। लोग यह समझने लगे थे कि इस परिवार का बच्चा-बच्चा तक रहस्यमय है, तभी लोग इनसे एक तरह से अलग-अलग ही

रहते थे। दुनिया में दो तरह के लोग होते हैं, एक तो वे जो लोगों के सामने अपना रहस्य खोल देने पर सीधे-सादे मानव समझे जाने लगते हैं, दूसरे वे जो बिचारे दूसरों से अपना समस्त खोल देने पर भी सहानुभूति नहीं पाते, दूसरे उन्हें सदा पहेली ही समझते रहते हैं। सर-परिवार के प्राणी इसी दूसरी श्रेणी के लोग थे। इस बात की एक उदाहरण तो इन्दिरा ही थी! वह अपनी बातचीत में बहुत स्पष्ट थी, और उसके पिछले जीवन के बारे में अनीता ने जो कुछ और जितना दीनदयाल को बताया था, उससे वे समझ गये थे कि वह एक सीधी-सादी साधारण नारी है, फिर भी वह रहस्यमय समझी जाती थी। यही बात अनीता पर भी लागू होती थी।

कनककुमार और मीना से जिस दिन तर्क-वितर्क हुआ था, उसके थोड़े ही दिनों बाद एक और ऐसी बात हुई जिससे दीनदयाल और भी उलझन में पड़ गये। उन्हें पता चला कि अनीता कहीं चली जानेवाली है। उसने यह नहीं बताया कि वह कितने दिनों के लिए जा रही है—यह भी नहीं कहा कि कहाँ जा रही है—पर जिस ढंग से उसने यह बात दीनदयाल से कही, उससे उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला कि उसे बाध्य होकर ऐसा करना पड़ रहा है। दीनदयाल ने यह तो लक्ष्य किया ही कि उसकी सभा की वाचालता इस समय नहीं है, बातें करते समय उसने एकबार भी आँख उठाकर उनकी ओर नहीं देखा। उसने यद्यपि इस बात पर बार-बार जोर दिया कि उसके जाने में कोई खास बात नहीं है, कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, पर दीनदयाल को लगता, वह अपने प्रयासों में असफल हो रही है।

जब तक कोई हमारे पास रहता है, हमारे सामने रहता है तब तक उसकी उपयोगिता या उसके प्रति अपने स्नेह की बात हम उतने उग्र रूप में नहीं अनुभव करते जितना उसके न रहने पर। न रहने पर उसकी साधारण से साधारण बात हमें अच्छी और महत्त्वपूर्ण लगती है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। यही दीनदयाल के साथ हुआ। अनीता के चले जाने पर उन्हें पूरी तरह जान पड़ा कि वे अनीता को कितना चाहने लगे थे। उसके ऊपर अपना सारा भार छोड़कर वे निश्चिन्त हो गये थे।

उसने कितनी उदारता और स्नेह से उनका स्वागत किया था, उन्हें ग्रहण किया था, उन्हें कितना अधिक समझती थी! उसके सामीप्य से दीनदयाल की दुनिया ही बदल गई थी!

अनीता के जाने के थोड़े दिनों बाद इन्दिरा ने एक दिन दीनदयाल को अपने कमरे में बुलवाया। दीनदयाल को आश्चर्य हुआ, जब से वे आये थे तब से इन्दिरा ने उनकी उपेक्षा ही की थी, ऐसे ही कभी उनके सामने पड़ती थी या बात करती थी। जो कुछ भी हो, उन्हें तो जाना ही था। वे ठीक समय पर उसके कमरे में गये। देखते ही उसने पूछा—कहिए, मेरा मकान आपको पसन्द आया?

ऊपर की मंज़िल में इन्दिरा के दो कमरे थे, दोनों के बीच में एक आने-जाने के लिए दरवाज़ा था। कमरा बड़ा अस्त-व्यस्त पड़ा हुआ था, किताबें, काग़ज, बहुत-सी फ़ोटो आदि चारों तरफ़ बिखरी पड़ी थीं, फिर भी, आश्चर्य है कि कमरे में जी नहीं ऊबता था, बल्कि वह अच्छा लगता था। दीनदयाल यही सब देख रहे थे कि इन्दिरा ने कहा—कृपया किताबें एक ओर सरकाकर बैठ जाइए। मैं अभी चाय मँगाती हूँ आपके लिए। मुझे कमरा साफ़ कराने का ख्याल भी नहीं आता—माफ़ कीजिएगा।

यह कहकर वह उठकर बाहर चली गई। दीनदयाल घूम-घूमकर किताबें देखने लगे। आत्म-चरितों और आत्मकथाओं की भरमार थी। विभिन्न देशों का इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासों का ढेर लगा पड़ा था। एक पुस्तक उन्होंने योंही उठा ली। उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब उन्होंने देखा कि पुस्तक कितनी गम्भीरता से और लगन से पढ़ी गई है, जगह-जगह लाल-हरी पेन्सिलों का निशान और पृष्ठों के खाली भागों पर लिखे हुए नोटों से यही प्रकट होता था। तब वे उठकर खिड़की के पास जा खड़े हुए और अस्त-व्यस्त पड़े बाग़ को देखने लगे। उस समय उनके मन में विचित्र-विचित्र बातें उठ रही थीं। कहीं से कोई शब्द नहीं आ रहा था। बहुत देर तक कमरे में भी कोई नहीं आया। दीनदयाल उस प्रातःकाल की बात सोचने लगे जिस दिन वे पहले-पहल यहाँ आये थे, अनीता ने उन्हें चाय पिलाई थी,

रामकुमार के कमरे का दृश्य, पहियेवाली गाड़ी को लेकर विनोद, अनीता का उनके कमरे में रात के समय जाना . . . क्या यह सब स्वप्न था, खेल था! उन्हें लगता कि इस स्वप्न को देखे, इस खेल को खेले उन्हें अनगिनत दिन, सप्ताह, मास और वर्ष बीत गये।

इन्दिरा नौकर के साथ चाय आदि लिवाकर आई। आश्चर्य है कि अपने सर-परिवार के प्रवास में आज पहले-पहल दीनदयाल ने एक नौकर देखा। नौकर के ट्रे रखकर जाने के बाद इन्दिरा ने स्वयं ही चाय बनाकर एक कप दीनदयाल की ओर बढ़ा दिया। बोला कोई नहीं उस समय, पर जब वह बोली, तो दीनदयाल को लगा, बात का जवाब देने की अपेक्षा चुप रहकर उसकी बातें सुनना ज्यादा अच्छा है। उसके स्वर में संगीत की इतनी मिठास थी।

हाथ का एक झटका देकर उसने कहा—इस कूड़ा-करकट के लिए क्षमा कीजिएगा। मैं कुछ पुराने पत्र खोज रही थी, उन्हीं की खोज में यह सब इधर-उधर तितर-बितर हो गये हैं। आप जानते ही हैं, पत्रों से आदमी को कितना ढाढ़स बँधता है। पत्र देखते-देखते मैं यही सोचने लगी थी कि मर जाने पर तो कहीं से कोई पत्र मिलेगा नहीं। उस समय क्या होगा?

उसकी आँखें दीनदयाल की आँखों से जा मिलीं, पर उन्होंने तुरन्त ही अपनी आँखें उस ओर से हटा लीं। उन्हें ऐसा मालूम हुआ जैसे इस स्त्री को पहचान पाने भर की सामर्थ्य उनमें नहीं है। सब ओर से अलग होकर इसने स्वयं ही अपनी एक दुनिया बना ली है और उसमें स्वयं ही अकेले बसती है। समय व्यतीत करने के लिए, पढ़ी-लिखी होने के कारण उसने पुस्तकों का व्यसन पाल लिया है और उसी में सन्तुष्ट रहती है। दीनदयाल को यह भी लगा जैसे उसकी बातों का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता।

काफ़ी देर तक चुप रहने के बाद इन्दिरा ने फिर कहा—मास्टर साहब, मैंने दुनिया के लिए अपने को मृत समझ लिया है। मुझे विश्वास है कि लोग भी मुझे ऐसा ही समझते हैं। आप देखते ही हैं, किसी से मेरा कोई खास सम्बन्ध नहीं है, सब लोग मुझसे दूर-दूर रहने में ही

कल्याण समझते हैं गोया मैं किसी की कोई हूँ ही नहीं। मैं भी सोचती हूँ, यह अच्छा ही है । जितना ही लोगों से अलग रहूँगी, उतना ही परेशान होने से बची रहूँगी। मेरी जो दशा है, मुझे लगता ऐसा है कि मौत में इससे कुछ ज्यादा तो होता नहीं होगा ।

दीनदयाल इन वाक्यों में निहित निराशा को पूरी तरह समझ गये। दुनिया से बिना पूरी तरह निराश हुए किसी के मुँह से ऐसी बातें नहीं निकल सकतीं। उन्हें याद आया, उस दिन बातों ही बातों में मीना ने कहा था कि पिता जी मा के प्रति अन्याय कर रहे हैं। पति की उपेक्षा ही इस तरह आज उसके स्वर में फूट पड़ी है। दीनदयाल को उसके लिए दुःख हुआ, फिर भी उसे प्रकट न करते हुए कहा—मैं आपकी बात समझा नहीं, माफ़ करें।

इन्दिरा—अरे, यह तो बहुत सहल बात है। जीवन यों ही तो नहीं व्यतीत होता! हम सब किसी न किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के आधार पर ही तो जीवित रहते हैं! अच्छा, आप किसके लिए जीते हैं?

यह प्रश्न इतना आकस्मिक था कि दीनदयाल ने इस पर कभी सोचा ही नहीं था। उनसे केवल इतना ही कहते बना—श्रीमती जी, यह तो मैंने कभी ठिकाने से सोचा ही नहीं। वर्षों तक मुझे रुपये कमाने की इतनी धुन रही कि और कुछ सोच पाने का अवसर ही नहीं मिला।

इन्दिरा—तब आप दूसरों के लिए ही जीवित रहते होंगे। आपको देखने से यह नहीं जान पड़ता कि आप अपने लिए रुपये जमा करते होंगे। रुपये आपको दूसरों के लिए चाहिए। पर... मुझे यह बताइए ....अब आपकी ज़िन्दगी का क्या उद्देश्य है? अब आपका जीवन किस भरोसे चल रहा है?

दीनदयाल ने फिर कहा—मैं नहीं कह सकता।

इन्दिरा ने उत्तर दिया—आशा के भरोसे महाशय, आशा के भरोसे ही आप चल रहे हैं। चूँकि आपको कहीं किसी वस्तु या व्यक्ति की आशा है, तभी यह जीवन आपको भारी नहीं लगता। आशा में ऐसी ही शक्ति है । हो सकता है कि प्रत्यक्ष में आपको आशा का

कोई आधार न हो, पर आपके जीवन में कहीं न कहीं आशा अवश्य दुबकी बैठी है। आशा का दूसरा नाम विश्वास है और विश्वास जीवन के प्रति आदमी के मन में मोह उत्पन्न करता है। मुझे तो वह भी नहीं है, क्योंकि लोगों ने मेरा साथ ही लगभग छोड़-सा दिया है।

वह चुप हो रही। दीनदयाल इन बुद्धिमत्ता-भरी बातों से इतना स्तंभित हुए कि उन्हें कोई जवाब ही नहीं सूझा। सोचने लगे, लोग इन्दिरा को पागल कहते हैं। महेशनारायण ने भी ऐसा ही कहा था। पर यह क्या पागलों की बातचीत है? पागल इतना अध्ययनशील हो सकता है? थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा—माफ़ करें, मैं आपसे बात करने योग्य नहीं हूँ। मैं बहुत साधारण व्यक्ति हूँ। आप जो बातें कर रही हैं वह मैं पूरी तरह समझ भी नहीं पा रहा, फिर जवाब देना तो दूर की बात है। वास्तव में मैं अभी बिलकुल नादान हूँ, एकदम साधारण व्यक्ति हूँ। यह आपकी कृपा है कि..... ।

इन्दिरा ने बात काटते हुए कहा—आप साधारण व्यक्ति नहीं हैं। आपके पास सहानुभूति है, सोचने-विचारने की सामर्थ्य है। तभी आप यहाँ ठहर सके हैं, अन्यथा क्या मेरे घर के इस पागलखाने में आप रह सकते? मैं अच्छी तरह जानती हूँ, लोग मुझे सनकी समझते हैं। पर मुझे सनकी समझनेवाले यह नहीं समझते कि यह भी रक्षा का एक उपाय है। यह सही है कि सनकी होना पागल होने की भूमिका है, पर कभी-कभी पागलपन से इसके द्वारा रक्षा भी होती है। दुनिया में मेरा जो कुछ था सब खत्म हो गया। जो कुछ रस था वह समाप्त हो गया, यह मैं नहीं कहती कि एक मैं ही दुनिया में ऐसी हूँ, बहुत-से लोग मेरी ही तरह इस दुनिया से निराश हो चुके हैं पर उनमें और मुझमें एक अन्तर है। वे आनन्द और तृप्ति प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, पाते भी हैं। या फिर वे समाजवादी बन जाते हैं, सुधार का काम उठा लेते हैं और इस तरह अपने अभाव को दूर करने की चेष्टा करते हैं। यह तो वैसा ही हुआ जैसे ढोल बजाकर शोर मचानेवाले यह भूल जाते हैं कि ढोल भीतर से खोखला है। असल बात तो यह है कि भय अथवा संकोच के कारण जो भी कार्य किये जायँगे वे अर्थहीन और व्यर्थ

होंगे। बिना स्नेह और प्रेम के आधार के कोई भी कार्य ठीक से नहीं हो सकता।

दीनदयाल इन्दिरा की ओर देखते रह गये। यह उसके अपने विचार हैं या किताबों की पढ़ी हुई बातें दुहरा रही है! यदि यह उसके अपने विचार हैं तो वह कितनी बुद्धिशालिनी है और यदि ये पुस्तकों में पढ़े हुए विचार हैं तो कितना गूढ़ उसका अध्ययन है! इन्दिरा ने थोड़ा रुककर फिर धीरे से कहा—में पिछले दिनों की स्मृति लेकर ही जीवित हूँ। स्मृति वह पाठशाला है जहाँ बच्चे, बड़े हो जाने पर, अपने टूटे खिलौने लेकर खेलते हैं।

शीघ्र ही उसमें परिवर्तन हुआ। थोड़ी देर बाद ही वह दीनदयाल को बता रही थी कि कैसे पिछले पाँच वर्षों में धीरे-धीरे, एक-एक कर सब लोगों ने उसका साथ छोड़ दिया, उस पर क्या-क्या अत्याचार हुए, कैसी-कैसी बातें उसे सुननी पड़ीं। उसने कहा—जब इस मकान की तबाही आई, जब 'उनके' (पति के) बारे में तरह-तरह की अफ़वाहें उड़ने लगीं, जब आर्थिक कष्ट अधिक होने लगा तब लोगों ने एक दिन एकाएक ही यह महासत्य खोज निकाला कि इन सब बातों का एकमात्र कारण मैं हूँ! तब एकाएक लोगों को ख़याल आया कि मेरे पिता बहुत शराब पीते थे, और मैं उनकी सन्तान हूँ। इसके साथ ही और भी बहुत-से लांछन मुझ पर लगाये गये। मैंने यह सब भुगता है, सब हँसकर सहा है। फिर भी विचलित नहीं हुई।

पन्द्रह मिनट बाद जब दीनदयाल वहाँ से उठे तब उनका मस्तिष्क एक उलझन में फँसा हुआ था। अनीता के मुँह से तो वे केवल घटनायें ही सुन पाये थे, इन्दिरा ने अप्रत्यक्ष रूप से सब कुछ कह डाला। दीनदयाल को ऐसा मालूम हुआ जैसे अनजाने ही वे इन्दिरा से सहानुभूति रखने लगे हैं। वे इसके बाद रामकुमार के कमरे में गये। उसकी तबीअत इधर कुछ दिनों से खराब थी और पढ़ाई बन्द थी। वहाँ बैठे बात करते रहे।

सात

एक छोटी मोटर—शायद 'बेबी आस्टिन'—धीरे-धीरे सड़क पर चली जा रही थी। अगस्त महीने का एक प्रातःकाल था और सूर्य आकाश में चमक रहा था। मोटर में एक व्यक्ति और एक कुत्ता था। बड़े-बड़े झबरे बाल थे। कुत्ता मोटर के एक ओर की खिड़की के बाहर सिर निकाले ध्यान से राह चलते लोगों को तथा दृश्यों को देख रहा था। कभी-कभी एकाध दूसरा कुत्ता देखकर या कोई अजनबी चीज देखकर वह भूंकने लगता था, पर मालिक के हाथ की थपथपाहट से अथवा स्नेहभरे एकाध शब्दों से वह शान्त हो जाता था, क्योंकि मोटर भी तब तक उस दृश्य से आगे बढ़ गई होती थी। मोटर चलानेवाले ने अपना टोप उतार रक्खा था और किसी गाने को धीरे-धीरे गुनगुनाता जा रहा था। एक हाथ 'स्टियरिंग ह्वील' पर था, दूसरे में एक अधजली सिगरेट थी और आँखें आसपास के भागते हुए दृश्यों पर जमी हुई थीं, कभी-कभी वह सामने की सड़क पर भी ध्यान से देख लेता था। व्यक्ति लम्बा था, साँचे में शरीर ढला हुआ लगता था और प्रत्येक गति-विधि उसके असाधारण व्यक्तित्व की परिचायक थी। सिर पर बड़े-बड़े बाल थे और चौड़ा मस्तक। आँखों में वह दृढ़ता थी जो भाग्य को चैलेंज देती है। मूँछ-डाढ़ी साफ़ थी और मुख देखने से लगता था जैसे वह सौन्दर्य-प्रेमी और रस-पिपासु स्वभाव का है। कठोर और दृढ़ मुखाकृति उसकी आत्म-शक्ति और साहस का परिचय देती थी। उस व्यक्ति को देखकर यह कोई नहीं कह सकता था कि यह छप्पन वर्ष के सर कृष्णकुमार हैं!

सर साहब ने एक जगह गाड़ी खड़ी की, एक दूसरी सिगरेट सुलगाई और तब, जैसे कुत्ते से बातें कर रहे हों, कहा—वह दूकान देखता है केसरी! (यह उन्होंने उस कुत्ते का नाम रक्खा था।) तेरे पैदा होने के पहले यह जगह बिलकुल उजाड़ थी और जहाँ यह दूकान देख

रहा है, वहीं एक छोटी-सी, मिठाइयों की देहाती दूकान थी। जब मैं बच्चा था तब इस दूकान पर जाया करता था और मिठाइयाँ खरीद कर खाया करता था। वह बहुत बड़ा भक्त भी था और हर एतवार को शाम को, गाँवभर को एकत्र कर रामायण-महाभारत का पाठ भी किया करता था। जो कुछ भी हो, कहने का मतलब केवल यह है कि वह बड़ा अच्छा आदमी था।

कुत्ता चुपचाप उनका हाथ चाटता रहा, जैसे वह सब समझ रहा हो। थोड़ी देर बाद ही सर साहब ने गाड़ी फिर बढ़ा दी और केसरी अपनी ओर के खिड़की पर अगले पाँव रख, बाहर के दृश्य तन्मयता से देखने लगा। यह यात्रा उसे बड़ी सुखद लग रही थी।

सर साहब ने गाँव आने का निश्चय सहसा ही कर डाला था। आने का कोई विशेष कारण भी नहीं था। किसी को यह आशा नहीं थी कि वे आज आयँगे। उन्होंने सोचा था कि एक सप्ताह या एक मास वे गाँव में रहेंगे। आगे की बात तबीअत लगने पर है। बहुत दिनों से इन्दिरा या अनीता का कोई समाचार उन्हें नहीं मिला था। यद्यपि सर साहब के लिए यह कोई नई बात नहीं थी, फिर भी इसी बहाने उन दोनों से भेंट भी हो जायगी, यह आशा तो उन्हें थी ही। बहुत-से लोग पत्र लिखने में बहुत सुस्त होते हैं, और कृष्णकुमार जानते थे कि उनके परिवार के लोग उसी कोटि में आते हैं। वे स्वयं भी, पत्र लिखने में बहुत उदार नहीं थे, जहाँ तक हो सकता, टालते ही रहते थे। परिवारवालों को तो वे और भी नहीं लिखते थे, केवल रामकुमार की हालत जानने के लिए वे कभी-कभी पत्र लिख दिया करते थे। उसका समाचार न मिलने पर तो वे कभी-कभी तार तक दे देते थे।

लगभग बीस मिनट बाद वे गाँव पहुँच गये। जो भी जहाँ था, वहीं से झाँक-झाँककर उन्हें देखने लगा। गाँवों में ये बातें बिजली की तेज़ी से फैलती हैं। सर साहब के बारे में तो यह स्वाभाविक भी था। एक तो बहुत दिनों से वे गाँव आये नहीं थे, दूसरे, इधर उनके बारे में जो अफ़वाहें फैल रही थीं, वे लाख दबाने पर भी, बच्चे-बच्चे के कानों तक पहुँच चुकी थीं। शहर की बात हो तो अफ़वाहें चार दिन

फैलकर शान्त हो जाती हैं, पर सीधे-सादे, दुनिया की गति और प्रगति से अनजान एक सीमित दायरे में बन्द रहनेवाले ग्रामीणों के लिए ज़रा भी कलंक या अपवाद की बात बहुत बड़ी हो जाती है। खेतों में काम करते हुए भोले-भाले किसान, घरों की ड्योढ़ियों पर खड़ी कृषक-वधुएँ तथा उनके नंगे और अधनंगे बच्चे, सभी आश्चर्य से कृष्णकुमार को, कुत्ते को और सवेरे-सवेरे ही गाँव की छाती पर सवार इस हवा-गाड़ी (मोटर) को देख रहे थे। केवल कृष्णकुमार ही उस ओर नहीं देख रहे थे, चुपचाप मोटर चलाये जा रहे थे। अपने घर के दरवाज़े पर पहुँचकर उन्होंने गाड़ी रोक दी और भीतर चले। रास्ते में ही उन्होंने तय कर लिया था कि पहले वे रामकुमार को देखेंगे, फिर और कुछ करेंगे। वे उसके कमरे में जा ही रहे थे कि दाई ने आकर बताया, रातभर वह बेचैन रहा है और इस समय सो रहा है। पाँच मिनट तक वे उस दाई से उसके बारे में पूछ-ताछ करते रहे। दाई जानती थी कि वे रामकुमार को कितना अधिक चाहते हैं और उन्हीं के कहने से वह अब तक यहाँ टिकी हुई है। वह समझती थी कि परिवार के अन्य लोग सनकी और पागल हैं। वह केवल सर कृष्ण-कुमार का ही दबाव मानती थी। रामकुमार की देखभाल करने के लिए उस दाई को सर साहब काफ़ी तनख्वाह देते थे और ठीक समय पर देते थे।

रामकुमार की बात करने में ही वह इतनी तल्लीन हो गई कि उसे और कुछ ख्याल ही नहीं रहा। वह सर साहब को यह बताना भूल गई कि उसके लिए एक नये मास्टर—दीनदयाल—रक्खे गये हैं जो इस समय शहर गये हुए हैं और अपने एक मित्र के यहाँ दो-एक दिन रहेंगे। कृष्णकुमार यह जान भी नहीं सके कि घर में एक और नया प्राणी बढ़ गया है जो थोड़े ही दिनों में परिवार का एक सदस्य ही बन गया है। कृष्णकुमार ने कहा—किसी से मेरे आने की बात न कहो। मैं ज़रा घूमकर सब कुछ देखना चाहता हूँ।

दाई का साथ छोड़कर सर साहब आगे बढ़े। घूमते-घूमते वे बाग़ की ओर आये और उसकी एकान्त अस्तव्यस्तता देखकर उन्हें मन ही

मन बहुत दुख हुआ। अभी थोड़े ही दिनों पहले यह बाग़ उनके लिए शान्ति का स्थान था जहाँ बैठकर वे सारी दुनिया का विवाद और चिन्तायें भूल जाया करते थे। स्वयं ही वे अपनी सतर्क दृष्टि से इसकी देखभाल करते थे और कहीं किसी कोने में तनिक भी व्यतिक्रम और गड़बड़ी देखकर उसे तुरन्त ठीक कराते थे। आज वही इस बाग़ को उस हसरतभरी नज़र से देख रहे थे जैसे कोई बहुत दिनों का विश्वासी प्रेमी अपनी उस प्रेमिका को देखता है, जिसने प्रेम का प्रतिदान न देकर उलटे रूठ जाने में ही मंगल समझा हो। कुत्ता इधर-उधर मनमाना क्यारियों में और फूलों के पौधों के बीच विचर रहा था जिससे पौधे कुचल भी उठते थे फिर भी उस ओर कृष्णकुमार का ध्यान नहीं था। थोड़ी देर तक इस तरह बाग़ को चुपचाप देखते रहने के बाद कृष्ण-कुमार एक जगह आकर खड़े हो गये और अपने घर को उसी मौन-पीड़ित दृष्टि से देखने लगे।

कहीं से कोई शब्द नहीं आ रहा था, सब कुछ शान्त था। बीच-बीच में चिड़ियों के गाने की आवाज़ ही उस नीरवता को भंग करती थी। प्रातःकाल की उजली धूप भवन के अग्र भाग पर पड़ रही थी और वायु फूलों के गंध से जैसे भारी होकर धीरे-धीरे डोल रही थी। दूरस्थित टूटे-फूटे तालाब का पानी शीशे की तरह चमक रहा था और आस-पास के वृक्षों की छाया उसमें प्रतिबिम्बित हो रही थी।

उनके मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार के भाव उठने लगे। यद्यपि उन भावों और विचारों में एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं था फिर भी वे अव्यवस्थित-से हो उठे।.....एक दिन पानी बरस चुकने के बाद अपने बचपन में जब उन्होंने बाग़ में फूल एकत्र कर बिछावन-सा बनाया था.....जब वे दस वर्ष के थे, पिता ने उन्हें एक तीन पहियोंवाली साइकिल ला दी थी.....घर के रसोइए ने किसी बात पर आत्महत्या कर ली थी....एक लड़की, जिसकी बड़ी-बड़ी और सुन्दर, आकर्षक आँखों में कोई संदेश भरा हुआ था उनके घर आई थी...आदि।

वे धीरे-धीरे घर की ओर बढ़े, फिर रास्ते से ही एक ओर घूम गये। इधर वह स्थान था जहाँ रामकुमार ने अपने हाथ से कुछ फूलों के पौधे लगाये थे पर अब जो बिलकुल उजाड़-सा पड़ा था। फूल सब झर चुके थे, पौधे मूल से उखड़ गये थे और इस बात का कहीं कोई चिह्न नहीं था कि किसी दिन एक नन्हे बच्चे के अनभ्यस्त किन्तु उत्साहपूर्ण छोटे-छोटे हाथों-द्वारा यह स्थान मनोरम और सजीव बनाया गया था। अब उस स्थान पर बेतरतीबी से घास उग रही थी। कृष्णकुमार दो-तीन मिनट तक उसे देखते रहे फिर सहसा ही उनकी आँखों में एक चमक-सी आई और मारे क्रोध के उन्होंने ज़मीन पर अपना पाँव पटका। पर यह क्रोध शीघ्र ही शान्त हो गया, जेब से सिगरेट निकालकर उन्होंने सुलगाई और कुत्ते को थपथपाते हुए घर की ओर बढ़े।

भीतर घुसते ही उन्हें घर की बूढ़ी रसोईदारिन मिली। कृष्णकुमार जब युवक थे तभी से वह इस परिवार में रसोईदारिन का काम कर रही है। इतने दिनों के अन्दर उसने परिवार के प्राणियों के लिए अपने मन में स्नेह भावना पाल ली है और सभी लोग उसे थोड़ा-बहुत मानते हैं। उसका व्यवहार भी सबके साथ ऐसा ही होता है जैसे वह इस परिवार की ही कोई वृद्धा स्त्री हो और अपने इसी अधिकार के बल पर वह किसी को डाट-फटकार भी देती है तो कोई बुरा नहीं मानता। कृष्णकुमार को देखकर उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी, इस तरह बातें करने लगी जैसे उन्हें वह अभी बिलकुल बच्चा ही समझती है जो बीमार होकर स्कूल से चला आया है। वह भी उसके साथ हँस-हँसकर बातें करने लगे। लेकिन जब-जब वह घर की किसी समस्या पर अथवा उनके विषय में कोई घरेलू बात करने लगती तो वे टाल जाते। उन्होंने सोचा, ये बातें तो आगे-पीछे भी हो सकती हैं, सवेरे-सवेरे ही वे अपना दिमाग़ ख़राब नहीं करना चाहते थे। वह रसोईदारिन यों तो काफ़ी शान्त स्वभाव और चुप रहनेवाली थी पर इस समय कृष्णकुमार को इतने दिनों बाद देखकर उसे न जाने क्यों सब कुछ बात कह डालने की इच्छा

हो रही थी। उसने अन्त में पूछा—अब तो आप यहाँ कुछ दिनों जरूर रहेंगे!

कृष्णकुमार ने कहा—नहीं, ज़्यादा दिन नहीं रहूँगा। लेकिन बहुत जल्दी ही फिर आऊँगा। हाँ, मेरे लिए रामकुमार के कमरे के बग़ल-वाले दोनों कमरे साफ़ करवा दो। कल तुमसे मैं कुछ और बातें करूँगा, रुपया भी दूँगा। मैं चाहता हूँ, यहाँ पर जिसका जो कुछ देना है, सब निपटा दूँ। यह तो बताओ, आजकल यहाँ कोई नौकर वग़ैरह है?

रसोईदारिन ने जवाब दिया—"हाँ, एक नौकरानी है और वह भी जा रही है। चलो छुट्टी ही हुई। नौकरों का क्या, जब तक उनके पास कुछ रहता नहीं तब तक तो वे एक जगह पर वर्षों टिके रहते हैं पर हाथ में कुछ आते ही उन्हें जैसे पर लग जाते हैं। फिर वे एक महीने भी नहीं रुक सकते!"

बात एकबार चल जाने पर फिर उसके लिए चुप रहना कठिन हो गया। आधुनिक नौकरों को लेकर वह बड़ी देर तक न जाने क्या-क्या कहती रही। यह साफ़ मालूम होता था कि नौकरों के विषय में उसके विचार बहुत अच्छे नहीं थे और बहुत पुराने थे। यह भी साफ़ ज़ाहिर था कि समय के साथ-साथ उसने उन विचारों में कोई परिवर्तन करना ज़रूरी नहीं समझा। उसका ख्याल था, दुनिया की सब समस्याओं का एक ही हल है और वह यह है कि लोग जल्द से जल्द पुरानी रीति-नीतियों को और प्राचीन आदर्श नियमों को अपना लें। वह अभी बहुत देर तक बकती जाती पर कृष्णकुमार ने बीच में टोंक दिया। लाचार होकर वह उनके कमरों का प्रबन्ध करने के लिए चली गई। कृष्णकुमार इन्दिरा से मिलने के लिए सीढ़ियों से होकर ऊपर चले।

इन्दिरा के कमरे का द्वार उन्होंने धीरे से खोला और भीतर चले गये। सब चीजें उसी तरह अस्तव्यस्त और बिखरी हुई पड़ी थीं जैसे दीनदयाल ने उन्हें देखा था। इन्दिरा खिड़की के पास बैठी एक पुस्तक पढ़ रही थी। इस ओर दृष्टि घूमते ही उसके मुंह से निकला—आप! थोड़ी देर बाद उसने पुनः आश्चर्य से कहा—आप! जैसे उसे

कृष्णकुमार की उपस्थिति पर बहुत आश्चर्य हुआ हो। दूसरे ही क्षण उसने झपटकर उनके पाँव छुए और प्रसन्नता से नाच-सी उठी । उनके चारों ओर इस तरह घूमने लगी जैसे कोई पंछी अपने नीड़ के चारों ओर घूमे। उल्लासमग्न स्वर में उसने कहा—तो आप आखिर आ ही गये! अच्छे तो रहे न! अब तो यहाँ पर आप रहेंगे न। बोलिए, कहिए कि अब कहीं न जायँगे!

इसके बाद वही घटना घटी जो बहुत दिनों के बिछुड़े पति-पत्नी अथवा प्रेमी-प्रेमिका के बीच पुर्नमिलन के समय घटती है, यानी सर कृष्णकुमार ने झुककर इन्दिरा का एक चुम्बन ले लिया। फिर कहा—इन्दिरा, यह तो मैं नहीं कह सकता कि यहाँ कितने दिन रुकूँगा, पर थोड़े दिनों रहने की इच्छा जरूर है। कोई भी कुछ निश्चित कैसे बता सकता है?

इन्दिरा अब तक कृष्णकुमार का हाथ पकड़े हुए थी और अपनी बहुत दिनों की भूखी आँखों से उन्हें जी भरकर देख रही थी। उसका व्यवहार इस समय बिलकुल वैसा ही हो रहा था जैसे वह अभी थोड़े दिनों पहले वधू बनकर इस घर में आई हो और पहली बार ही पति-वियोग का उसे अनुभव हुआ हो, लम्बी अवधि के बाद पति के पुनः वापस आने पर वह उनका स्वागत कर रही हो। बातें करते-करते ही इन्दिरा को सहसा ध्यान आया, पति इतने दिनों बाद आये हैं और वह उनके सामने बिलकुल साधारण वेषभूषा में स्वागत के लिए खड़ी है। यह ठीक नहीं है। वह तुरन्त बगल के दूसरे कमरे में घुस गई और दस मिनट बाद सजी-बजी और आकर्षक बनी बाहर निकली। इस समय वह बीस वर्ष की ही युवती-सी लग रही थी।

कृष्णकुमार ने उसके वेशविन्यास की सराहना करने के बाद पूछा—अनीता कहाँ है?

इन्दिरा—अनीता? यह आप किसका नाम ले रहे हैं? नहीं, नहीं, जहाँ तक मेरा खयाल है, यहाँ पर कोई नहीं है।

कृष्णकुमार—तब कहाँ गई है?

इन्दिरा—कहाँ गई है? मुझे तो बिलकुल पता नहीं है। जहाँ तक मैं समझती हूँ, वह यहाँ थी ज़रूर, कहीं चली गई होगी।

कृष्णकुमार चुप रह गये, एकबार कमरे की अस्तव्यस्तता को पुनः देखा और तब खिड़की के पास जाकर बाहर बाग़ देखने लगे। पल भर बाद पूछा—माली कहाँ गया? बाग़ इतना गड़बड़ क्यों है? क्या वह बीमार है?

इन्दिरा ने अन्यमनस्क होकर उत्तर दिया—हो सकता है। मैंने उसे महीनों से नहीं देखा, मालूम नहीं कहाँ गया। पहले तो खिड़की से उसे काम करते देखती थी।

ज्यों ही कृष्णकुमार उसे छोड़ दूसरी बातें करने लगे त्यों ही इन्दिरा अन्यमनस्क हो उठी थी। यह सर्वथा स्वाभाविक भी था। बहुत दिनों के बाद अपने प्रियतम को पानेवाली नारी यदि यह चाहे कि उसका प्रियतम उससे ही बातें करे, उसका सुख-दुःख पूछे, उसे प्रेम प्रदान करे तो यह अनुचित नहीं कहा जा सकेगा।

कृष्णकुमार ने पूछा—उसे तनख्वाह तो दी गई थी न?

इन्दिरा ने जवाब नहीं दिया; केवल उत्सुकता से उनकी ओर देखती रही। थोड़ी देर बाद उसने कहा—सुनिए, मैं.....।

कृष्णकुमार—हाँ, क्या है?

इन्दिरा धीरे-धीरे उनके पास गई और स्नेह से उनके कन्धे पर हाथ रखती हुई उदासी-भरे स्वर में बोली—मैं ज्योति की बात कह रही हूँ।

कृष्णकुमार जैसे स्तम्भित हो रहे। उन्होंने इतना ही कहा—ओह, ज्योति! तो तुमने उसके बारे में सब सुन रक्खा है। मैंने तो शायद तुम्हें इस बारे में कुछ लिखा नहीं, कभी कुछ कहा भी नहीं। मुझे याद नहीं पड़ता। लेकिन जब तुम उसे देखोगी तो ख़ुद ही सब कुछ समझ जाओगी। वह अद्भुत स्त्री है। लोग उसके बारे में न जाने क्या क्या झूठ-सच बातें गढ़-गढ़कर कहा करते हैं। वह विचित्र स्त्री है। हम दोनों काफ़ी दिनों तक मित्र की तरह रहे हैं और तब...ख़ैर, तुम तो सब जानती ही हो। कृष्णकुमार जोर से हँस पड़े और इन्दिरा को उस

हँसी में योग देना ही पड़ा, किन्तु तुरन्त ही वह पुनः गम्भीर हो पड़ी। बोली--आप मुझे बिलकुल ही नहीं चाहते। मुझ पर आपका विश्वास नहीं है। यह क्यों?

कृष्णकुमार—तुम यह ग़लत कह रही हो। मैंने हमेशा तुम्हारे ऊपर विश्वास किया है और तुम्हें मानता रहा हूँ। यह बात तुम भी अच्छी तरह जानती हो।

इन्दिरा ने करुण स्वर में कहा—क्या आप सच कह रहे हैं?

कृष्णकुमार—बिलकुल सच कह रहा हूँ। ज्योति मुझे वैसी ही लगती है जैसी तुम बीस वर्ष की आयु में थीं। वह तुम्हारी छाया-सी लगती है। मैं अपने को उससे प्यार करने से रोक नहीं सका। और मैं करता ही क्या?

इस तरह की बातें कृष्णकुमार हमेशा ही इन्दिरा से कहा करते थे। अपनी कमज़ोरियों को और अपने अविश्वास को छिपाने का उनके पास यही साधन था। आश्चर्य तो यह है कि इन्दिरा सदैव उनकी इन बातों पर विश्वास कर लेती थी। इस समय भी ऐसा ही हुआ। उनके मुँह से निकले हुए इन कुछ झूठे वाक्यों ने इन्दिरा को उनके साथ और भी बन्धन में बाँध दिया। यद्यपि यह बन्धन एक दूसरी स्त्री के हाथों पर आधारित था। इन्दिरा ने यह भी नहीं सोचा कि वे झूठ कह रहे हैं या सच, उसके लिए तो सबसे बड़ी बात यही थी कि पति ने इस समय उसकी मान-रक्षा कर दी थी। उसके प्रेम और प्यार की अनबुझी भूख इस समय इसी से आंशिक और क्षणिक रूप में शान्त हो गई। इस दुर्बल और अस्थिर नीव पर वह अपने स्वप्नों का महल खड़ा कर सकती थी। मन ही मन उसने एकबार फिर दुहराया—तो ये मुझे चाहते हैं।

उसने कहा—तो क्या ज्योति आपको सचमुच ही बहुत ज्यादा प्यार करती है?

कृष्णकुमार--असल बात यह है इन्दिरा कि आज के ज़माने में किसी को प्रेम और प्यार करने की फ़ुरसत ही नहीं है। प्रेम करना एक कला है और हमारा जीवन घोर वैज्ञानिक हो उठा है। कला और विज्ञान,

कल्पना और तर्क, स्वप्न और सत्य एक ही जगह एक साथ नहीं रह सकते। ज्योति भी औरों की तरह रुपया ही चाहती है। मैंने जो कुछ भी लाड़-प्यार या दुलार उसे दिया है, सब एक क़र्ज़दार की तरह! इससे अधिक और कुछ नहीं।

इन्दिरा प्यार से उनसे लिपट गई, कहा—तो आप अब भी मुझे थोड़ा-बहुत प्यार करते हैं ?

कृष्णकुमार—यह तो तुम मुझसे ज़्यादा जानती हो!

इन्दिरा की आँखे आधी मुंदी हुई थीं और वह किसी अज्ञात सुख में तल्लीन हो गई थी। उसके कपोल कृष्णकुमार के कपोल से सटे हुए थे। कृष्णकुमार ने फिर काँपती हुई आवाज़ में कहा—तुम जानती हो, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। अपनी ओर से तुम्हें पूरा पूरा मानता हूँ। यह मैं मानता हूँ कि मेरा प्यार करने का तरीक़ा और लोगों से कुछ भिन्न है, मैं प्रदर्शन नहीं कर सकता। पर इस दुनिया में सबके अलग अलग तरीक़े होते हैं, सब अपने अपने रास्ते चलते हैं। उन्हें वैसे ही चलने देना चाहिए। चाहे हमारे अपने विचार हमें जहाँ भी ले जायँ, हर आदमी को अपने रास्ते चलने का पूरा हक़ होना चाहिए।

कहते कहते इन्दिरा को कृष्णकुमार ने अपने से अलग कर दिया था। वह बेचारी चुपचाप उनकी बातें सुन रही थी। अब उन्होंने पूछा—उपेन्द्र कहाँ है, क्या तुम जानती हो ?

उपेन्द्र !

पल भर में ही इन्दिरा फिर अन्यमनस्क हो उठी !

कृष्णकुमार—तो तुम नहीं जानतीं। क्यों न ! अच्छा, कनककुमार और मीना की कुछ खबर है ?

इन्दिरा—आप तो जानते ही हैं, मुझसे कोई नहीं मिलता !

कृष्णकुमार व्यस्तभाव से कमरे में टहलते रहे, कभी खिड़की से बाग़ की ओर देख लेते और फिर टहलने लगते। उनका मुंह बन्द था। बार-बार वह रामकुमार के बारे में पूछने का निश्चय करते थे पर न जाने क्यों रुक जाते थे। उन्होंने एक सिगरेट सुलगाई और कहा—

हाँ, मैं यहाँ के सारे क़र्ज़े निपटा देना चाहता हूँ। मुझे कुछ रुपये मिलनेवाले हैं। जो कुछ लोगों का देना हो, कृपया मुझे बतला दो।

इन्दिरा उन्हें सब बतलाती गई और वे नोट करते गये। लिख चुकने पर जब वे फिर से उन्हें पढ़ रहे थे, उसी समय इन्दिरा ने पूछा—क्या तुम ज्योति का भी सारा खर्च उठाते हो?

कृष्णकुमार—नहीं। ज्योति की हालत अभी ऐसी नहीं हुई है कि उसे प्यार करनेवाले उसके बिल भी चुकाया करें। लेकिन, अच्छा हो यदि हम उसकी बात ही न करें। यह बताओ, खाना तैयार है?

इन्दिरा—कहाँ खाओगे? यहीं, ऊपर! आज इसी जगह खाओ न?

कृष्णकुमार—अच्छी बात है। यहीं मँगाओ।

बहुत दिनों के बाद उस दिन पति-पत्नी ने एक जगह बैठकर साथ ही भोजन किया। इन्दिरा के लिए वह घड़ी वर्णनातीत थी, पर कृष्णकुमार के मन में दूसरी ही बात थी। वे केवल इन्दिरा का मन रख रहे थे।

आठ

सर कृष्णकुमार जिस समय गाँव के घर पहुँचे थे, उसके थोड़ी ही देर पहले एक और किराये की टैक्सी नगर से गाँव जाने के लिए रवाना हुई थी। मोटर में एक व्यक्ति और अनीता बैठे हुए थे। उन दोनों के शारीरिक गठन, मुखाकृति और स्वभाव में इतना अन्तर था कि दूर से ही पहचाना जा सकता था।

हरेकृष्ण मध्यम क़द का, साँवले रंग का, कठोर आकृति का व्यक्ति था। उसकी छोटी छोटी आँखों में ऐसी दृष्टि थी जो उसके दृढ़ स्वभाव की सूचक थी। बोलने-चालने में तो वह बहुत तेज़ जान पड़ता था, पर देखने में सुस्त और आलसी लगता था। उसकी आयु पैंतीस-छत्तीस वर्षों की जान पड़ती थी, यों आयु वास्तव में चाहे जो रही हो।

टैक्सी भीड़ और सवारियों के कोलाहल के बीच से राह बनाती गाँव की ओर चलती जा रही थी। एक हलका नीला कुहासा सर्वत्र छाया हुआ था। पैदल चलनेवाले राहगीर, सवारियों के और सवारी-वालों के बार-बार के चीख-पुकार और 'हटो, बचो' की आवाज़ के बीच से बच-बचकर, तेज़ी से चलते जा रहे थे। ऊपर वृक्षों की चोटी के आड़ में सुनहला सूर्य आसमानी वर्ण के आकाश में चमक रहा था। और टैक्सी बढ़ी जा रही थी। कोई बोल नहीं रहा था। हरेकृष्ण पूरी रफ़्तार से मोटर चलाने में तन्मय था और अनीता सीधे अपने सामने दृष्टि जमाये हुए थी, न तो कुछ देख रही थी और न सुन रही थी। एकबार हरेकृष्ण ने चेष्टा करके उससे कुछ कहना भी चाहा, पर या तो अनीता ने सुना नहीं या सुनकर भी उपेक्षा की, कोई उत्तर नहीं दिया और वैसी ही आगे की ओर दृष्टि गड़ाये रही। कुछ ही मिनटों बाद उसने हरेकृष्ण की ओर घूमकर कहा—मैं रास्ते में ही उतर जाऊँगी। मुझे घर तक पहुँचाने की जरूरत नहीं है। समझे?

जिस स्वर में उसने यह बात कही वह किसी दूसरे के लिए अपमान और क्रोध की बात होती पर हरेकृष्ण ने इसमें अपना अपमान नहीं समझा। उसने भारी आवाज़ में उत्तर दिया—जैसा तुम कहो। पर यह तो बताओ, अब कब मिल सकता हूँ?

अनीता—मैं अब फिर तुमसे नहीं मिलना चाहती।

हरेकृष्ण ने एक फीकी मुसकराहट हँसते हुए कहा—यह तो तुम कई बार पहले भी कह चुकी हो। तुम अपने को धोखा दे सकती हो, परिवार को धोखा दे सकती हो लेकिन मुझे तुम धोखा नहीं दे सकतीं। ख़ैर, कोई बात नहीं। देखें, यह नाटक कितने दिनों तक चलता है! यह तो तुम जानती ही हो कि इन सबका नतीजा क्या होता है!

अनीता ने जैसे बड़े उत्तेजित स्वर में कहा—तुम पागल हो गये हो! मैं तुमसे कह चुकी हूँ, इसकी अपेक्षा मैं आत्महत्या कर लेना अधिक पसन्द करूँगी। एकदम ही लाचार हो जाऊँ वह और बात है, पर यों तो यह बात नहीं हो सकती।

हरेकृष्ण ने हँसकर कहा—शायद सर-परिवार में आत्महत्या का रोग लगा हुआ है। जिसे देखो वही....!

अनीता ने बीच में ही बात काट दी—क़दम-क़दम पर तुम यह क्यों साबित करते रहते हो कि तुम मूर्ख हो? यह तो पहले से ही जानी हुई बात है! तुम्हारी इन बातों से तुम्हारा हलकापन ही ज़ाहिर होता है।

हरेकृष्ण—अनीता, तुम्हें अपने ऊपर बड़ा घमंड है, पर यह ठीक ही है। तुम-सी स्त्री जब क्रोध करती है या रूठ जाती है तो यह भाव उसके मुख पर, उसके सौन्दर्य के कारण द्विगुणित हो जाता है। वास्तविकता यही है कि क्रोध में आने पर तुम अधिक सुन्दर दिखती हो। तुम चतुर भी बहुत हो, खाली जितनी देर मेरे साथ रहती हो उतनी ही देर मूर्खतापूर्ण बातें करती हो।

कहा था हरेकृष्ण ने यह दूसरे ही इरादे से पर अनीता ने इसका

और ही अर्थ लिया। कहा—मुझे इस बात की खुशी है कि आप इतना समझते हैं। तुममे इतनी बुद्धि है, यह मैं नहीं जानती थी !

हरेकृष्ण—मैं समझता हूँ, तुम्हें जानना चाहिए। अनीता, तुम अपना यह झूठा घमंड औरों के लिए ही सुरक्षित रक्खो तो ज्यादा अच्छा हो। वे लोग, जो तुम्हें नहीं जानते या तुम्हारी असलियत से अनजान हैं, उन पर तुम्हारा यह गर्व कुछ काम दे सकता है। मुझे क्या ? मैं तो तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ! समझीं !

क्रोधावेग में अनीता हरेकृष्ण की ओर घूम पड़ी, कहा—तुम कुछ नहीं जानते—कुछ नहीं जान सकते ! मेरे बारे में तुम कुछ नहीं कह सकते। तुम्हारे साथ रहने पर मैं 'मैं' नहीं रह जाती, कुछ और हो जाती हूँ। अपनेपन को भूलकर मैं भी तुम्हारे जैसी ही बन जाती हूँ, वैसी ही साधारण ! पर इससे कोई मतलब नहीं सिद्ध होगा ! तुम चाहे जो कहो, या मैं ही चाहे जो कहूँ, सब बातों की बात यह है कि मैं अब दुबारा तुमसे नहीं मिल सकूँगी। इसे मेरा अन्तिम निश्चय समझो। मुझे पत्र आदि भी मत लिखना, मैं उन्हें खोलूँगी तक नहीं, पढ़कर जवाब देना तो दूर की बात है !

हरेकृष्ण ने फिर वैसी ही सूखी हँसी हँसते हुए कहा—आज से छः महीने पहले भी तुमने इन्हीं शब्दों में ये बातें कही थीं। यह तुम्हारा अन्तिम निश्चय है, यदि इस पर वास्तव में तुम विश्वास करना चाहती हो तो करो, मेरी कोई हानि नहीं। जैसे इतने दिन, वैसे ही कुछ दिन और भी ! मैं प्रतीक्षा करता रहूँगा। मुझे कोई खास जल्दी नहीं है।

वह बिलकुल दृढ़ शब्दों में बोल रहा था। अनीता ने कुछ उत्तर नहीं दिया, केवल अपने पाँवों की ओर देखती हुई चुप बैठी रही। लज्जा की लाल आभा से उसका सौन्दर्य इस समय और भी बढ़ गया था। हरेकृष्ण ने भी वह शान्ति भंग करने की कोई विशेष चेष्टा नहीं की, केवल मोटर चलती रही और तब तक कोई न बोला जब तक एक जगह अनीता ने गाड़ी रुकवा नहीं दी। हरेकृष्ण ने फिर पूछा—घर तक न चलोगी !

अनीता—मैंने पहले ही कह दिया था।

हरेकृष्ण—खैर, तो अभी थोड़ी देर और ठहर जाओ। मुझे अभी तुमसे कुछ और बातें करनी हैं!

अनीता—जैसा तुम चाहो। हालाँकि तुम जो कुछ कहोगे वह मैं जानती हूँ और उसका मेरे ऊपर कोई विशेष प्रभाव न पड़ेगा।

अब हरेकृष्ण ने वे बातें कहनी शुरू कीं, जिनसे हमारे पाठकों को ऊपर के वार्तालाप का रहस्य समझ में आ सकता है। उसने कहा—यह मैं जानता हूँ, हम दोनों की जान-पहचान और मैत्री का हाल तुम अपने परिवारवालों से कहने में डरती हो, तुम्हें संकोच होता है। दूसरी ओर मैं तुम्हारे पिता जी से दिन पर दिन घनिष्ठ होता जाता हूँ। किन्तु इन सब बातों से कोई मतलब नहीं। काम की बात यह है कि अब तुम जान गई हो, मैं क्या चाहता हूँ और क्या करने जा रहा हूँ। वह तो होकर ही रहेगा। तुम्हारे पिता जी भी.....।

काफ़ी देर तक शान्ति रही। फिर अनीता हरेकृष्ण की ओर घूमकर बोली—उसके स्वर में जैसे इस समय समझौता बोल रहा था—सुनो हरी, जो तुम चाहते हो, तुम्हारी जो इच्छा है वह असम्भव है, एकदम असम्भव! यह मैं मान लेती हूँ कि मुझे तुमसे फिर न मिलने के लिए कहना ठीक नहीं हुआ। मैं यही कर सकती हूँ कि तुमसे कभी कभी मिलती रहूँ। इसके लिए मैंने तुम्हें उपाय भी बताया था। जब मिलना हो और जहाँ मिलना हो, एक पत्र मुझे भेज देना। मैं आकर मिल लूँगी।

हरेकृष्ण—अनीता, यह ठीक नहीं होगा!

अनीता—क्यों?

हरेकृष्ण—मैं यही तो नहीं चाहता! मैं तो कुछ और चाहता हूँ। इस तरह छिप-छिपकर मिलने को मैं ठीक नहीं समझता। मेरा नैतिक स्तर और लोगों से—तुम्हारे अन्य परिचितों से—कहीं ज्यादा ऊँचा है। पर इस बहस से और नैतिकता पर तर्क करने से तो कोई विशेष लाभ नहीं होगा। मैं प्रतीक्षा करता रहूँगा—कभी तो तुम मेरी बात पर 'हाँ' कहोगी!

अनीता पुनः उत्तेजित हो गई। बोली—तब तो मुझे ऐसा लगता है, तुम्हें जिन्दगी भर प्रतीक्षा मे ही बिताना पड़ेगा! खैर, अब मैं जा रही हूँ।

धीरे-धीरे और बरबस ही हरेकृष्ण ने अनीता को सहसा अपनी बाहों में भर लिया और उसका इतना प्रगाढ़ और तीव्र आलिंगन किया कि वह बिलकुल असहाय-सी उसकी बाहों में पड़ी रही। तुरन्त ही अनीता की आँखें मुंद गई, और जैसे उस पर कोई सम्मोहिनी फेर दी गई हो, स्थिर हो रही। उसी समय हरेकृष्ण ने उसका एक उग्र चुम्बन भी ले लिया! अनीता मे विरोध करने की जैसे सामर्थ्य ही नहीं रह गई थी! अन्त में, थोड़ी देर बाद हरेकृष्ण ने उसे अपने आलिंगन-पाश से मुक्त कर दिया और वह शिथिल होकर खड़ी रह गई। पल भर बाद ही उसने अपने को संयत किया और सिर नीचा किये हुए ही बोली—मैं तुमसे घृणा करती हूँ, हरी—बहुत घृणा करती हूँ। इतनी घृणा मुझे किसी से कभी नहीं हुई।

हरेकृष्ण—हाँ, यह मैं जानता हूँ।

पल भर की शान्ति के बाद अनीता ने फिर कहा—भगवान् के लिए, तुम यहाँ से चले जाओ। मैं अब एक मिनट भी तुम्हारा मुंह नहीं देखना चाहती।

यह कहकर वह तेज़ी से घर की ओर पाँव बढ़ाये चली, पर थोड़ी ही दूर जाने के बाद उसे पीछे से एक मोटर के आने का शब्द सुन पड़ा। वह चलते-चलते ठिठक गई, मोटर निकल जाय तो वह आगे बढ़े, अन्यथा गाँव की सड़क की सारी धूल मोटर के पहियों से उड़कर उस पर आ पड़ेगी! पर उसे ऐसा मालूम हुआ, मोटर उसके ही पीछे आ रही है। हुआ भी ऐसा ही, मोटर पास आकर रुक गई और उसमें से दीनदयाल बाहर निकले।

अनीता के मुख से इतना ही निकला—मास्टर साहब!

यह कहकर, न जाने क्यों, उसने अपने दोनों हाथ उनकी ओर बढ़ा दिये। फिर कहा—हे भगवान्, काश आप जान सकते, आपसे मिलकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई! मैं समझती थी, आप अब तक

गाँव छोड़कर चले गये होंगे ! अरे, आप गये कहाँ थे ? यह सूटकेस ?

'हाँ'—दीनदयाल ने जवाब दिया,—मैं तीन-चार दिनों के लिए शहर चला गया था। मेरी वहन और बहनोई साहब यहाँ आये हुए थे, उन्हीं से मिलने के लिए मुझे जाना पड़ा। अब वे कलकत्ता घूमने गये हैं, और मैं लौट आया। खैर, यह सब तो पीछे होता रहेगा, आइए, मोटर में आ जाइए। यह किराये की टैक्सी करके आ रहा हूँ।

अनीता मोटर पर चढ़ गई और दीनदयाल पर प्रश्नों की झड़ी लगा दी,—तो आप सचमुच ही यहाँ रहेंगे ? हाँ, आप ज़रूर रहिए ! कहिए कि रहेंगे ! हाँ, आपको अब तक कुछ वेतन मिला ?

दीनदयाल—हाँ . . . नहीं. . . बात यह है कि . . . . ।

अनीता—अरे ? नहीं मिला ? मैं जानती थी, न मिला होगा ! और फिर देगा भी कौन ? मास्टर साहब, यहाँ पड़े रहने से आपकी ज़िन्दगी चौपट हो जायगी ! हम लोग आपको नष्ट कर डालेंगे ! फिर भी, मास्टर साहब, मैं चाहती हूँ कि आप यहाँ रहें ! मेरे लिए रहें !

'मेरे लिए रहें'—यह वाक्य उसके मुँह से निकल तो ज़रूर गया पर बाद में वह झेंप गई। यह वह क्या कह रही है ! और आश्चर्य है, दीनदयाल भी अपने कानों के लिए अनभ्यस्त अनीता के इस वाक्य को सुनकर पल भर लज्जा से लाल हो गये और उसकी ओर देखकर कहा—मैं यहाँ बहुत खुश हूँ, अनीता !

अनीता—खुश और इस गाँव में ? मेरे घर में ! तब तो आप, जान पड़ता है, असाधारण व्यक्ति हैं !

जब तक टैक्सी घर तक नहीं पहुँच गई तब तक वह बातें करती रही। दीनदयाल ने टैक्सीवाले को किराया दिया और वह टैक्सी लेकर चला गया। अनीता किसी उन्मादक गीत की कोई कड़ी गुनगुनाती हुई भीतर चली गई और दीनदयाल बाग़ में टहलते रहे। यहाँ उन्हें सर कृष्णकुमार मिले। दोनों एक दूसरे की ओर थोड़ी देर तक आश्चर्यचकित नेत्रों से देखते रहे, फिर दीनदयाल ने ही उपयुक्त जान, मौन तोड़ा। कहा—मैं समझता हूँ, आप ही सर कृष्णकुमार हैं !

कृष्णकुमार ने मुसकराकर उत्तर दिया—हाँ, हूँ तो। कहिए, क्या आज्ञा है?

दीनदयाल—मैं आपको देखते ही पहचान गया। मेरा नाम है दीनदयाल। रामकुमार के लिए नया शिक्षक बनकर यहाँ आया हूँ। नमस्कार।

नमस्कार का उत्तर देते हुए सर कृष्णकुमार ने कहा—मुझे आपसे मिलकर बड़ी खुशी हुई। शायद आप यहाँ अधिक दिनों से....।

दीनदयाल—जी हाँ, मैं यहाँ दो महीनों से हूँ!

कृष्णकुमार—अच्छा! चलो, एक चिन्ता से छुटकारा मिला! मुझे रामकुमार की पढ़ाई-लिखाई की बहुत चिन्ता थी—पर, खैर, कोई बात नहीं। चिन्ता तो बहुत-सी बातों की की जा सकती है! ताज्जुब है, आपके बारे में किसी ने मुझसे कुछ कहा नहीं।

दीनदयाल—यह मेरी ग़लती हो सकती है!

कृष्णकुमार—नहीं नहीं! हाँ, आपको कुछ तनख्वाह मिली?

दीनदयाल यहाँ भी वैसे ही हकलाने लगे—हाँ—नहीं...बात यह है...।

कृष्णकुमार—तो नहीं मिली? हे भगवान्, यह घर तो जैसे पागल-खाना हो गया है! आप बहुत भले आदमी हैं मिस्टर दीनदयाल, तभी यहाँ रुक गये। खैर, अब मैं सब ठीक कर दूँगा। आप चिन्ता न करें।

दीनदयाल—नहीं नहीं, मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं है। कोई जल्दी नहीं है। जब होगा तब...बात यह है कि मुझे यह स्थान बहुत पसन्द आया है!

इसी समय अनीता की आवाज़ सुन पड़ी—मास्टर साहब!

कृष्णकुमार बोल उठे—अरे, यह तो अनू का स्वर है! वह, मालूम होता है, आज ही आई है!

फिर अनीता का स्वर सुन पड़ा—जल्दी कीजिए मास्टर साहब, चाय ठण्डी हो जायगी!

सर कृष्णकुमार ने मुसकराकर दीनदयाल से कहा—महाशय, आप एक विचित्र परिवार में आ फँसे हैं। चलिए, चला जाय।

अनीता के पास जब वे पहुँचे, वह सर साहब को देखकर दौड़ पड़ी और उनकी टाँगों से लिपटकर बच्चियों की तरह रो उठी! पिता-पुत्री का इतने दिनों बाद का यह स्नेहमिलन देखकर दीनदयाल विस्मित हो रहे। उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कृष्णकुमार बोले—बेटी, रो क्यों रही हो? तबीअत तो ठीक है न!

अनीता—आप आये—आप आगये बाबू जी!

उसी रात कृष्णकुमार ने उसे बताया कि किस तरह हरेकृष्ण की सहायता से उन्हें अपने काम में लाभ हुआ है—धन मिला है—और वे यहाँ का देना-पावना इस बार निपटा देंगे।

नव

इस विशद विश्व में भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न प्रकृति होती है। कुछ लोग परिस्थितियों के हाथ पड़कर किंकर्त्तव्यविमूढ़-से हो जाते हैं, कुछ उन्हीं परिस्थितियों को अपने असाधारण व्यक्तित्व से अपने अनुकूल कर लेते हैं। यह नहीं कि उन लोगों में और लोगों से कुछ विशेष बुद्धि होती है अथवा वे किसी अन्य धातु के बने होते हैं। वे भी साधारण व्यक्ति ही होते हैं, पर उनमें कुछ ऐसा होता है कि जिस परिस्थिति में वे पड़ते हैं उसी में एक अजीब रंग पैदा हो जाता है, एक नवीनता आ जाती है। उनकी उपस्थिति से उन परिस्थितियों में भी एक अपना ही महत्त्व उत्पन्न हो जाता है।

कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सर कृष्णकुमार में यह गुण था और तभी उनकी उपस्थिति से गाँव के उस वातावरण में एक परिवर्तन आगया। माली आया, नौकरानियाँ भी आईं, बिलें चुकाई गईं, कमरों की धूल साफ़ हो गई और सब कुछ व्यवस्थित हो उठा। पर साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि यह सब तो रुपये के ज़ोर पर हुआ। जिसके पास भी रुपया होगा, वही यह सब कर सकता है। पर यह न भूल जाना होगा कि इन्दिरा का ऐच्छिक निर्वासन भी उनकी उपस्थिति से ही सम्भव हुआ था! उनके यहाँ आ जाने से गाँव का वह घर, घर लगने लगा और वह परिवार, परिवार! व्यवस्था का साम्राज्य हो गया, भोजन ठीक समय पर सबको मिलने लगा, दो-एक अतिथि-अभ्यागत भी आने लगे। इस समय की अवस्था देखकर लोग आसानी से उस समय की दशा का अनुमान कर सकते थे जब परिवार में विशृंखलता का राज्य नहीं हुआ था। और यही कृष्णकुमार का व्यक्तित्व था, यही उनके व्यक्तित्व का प्रभाव था!

इन्दिरा तो जैसे स्वर्ग में थी! पति की उपस्थिति ने उसे एकदम परिवर्तित कर दिया था। उसकी दशा ठीक उस व्यक्ति की-सी थी जो

चारों ओर से सर्वथा निराश हो गया हो और फिर सहसा ही जिसे एक दिन आशा का लहराता नद दीख पड़ जाय। इस समय उसे कृष्ण-कुमार के अतिरिक्त—पति के अतिरिक्त—और कुछ न सूझता था। उसे लगता, जगत् सारा मिथ्या हो गया है, कहीं कोई नहीं है, किसी दूर, एकान्त शान्त स्थान में नवप्रेमी के रूप में कृष्णकुमार हैं और नव-प्रेयसी के रूप में वह स्वयं, और उस स्थल पर प्यार का अजस्र स्रोत निरन्तर झरझर झर रहा है। इस प्रेमोन्माद में वह सच ही दीन-दुनिया भूल जाती, दीनदयाल, अनीता, नौकर-चाकर, सबकी उपस्थिति में ही पति का—कृष्णकुमार का—मुख सतृष्ण नेत्रों से एकटक निहारा करती। वियोग की उस लम्बी अवधि को भूलकर वह इस क्षण के आनन्द में समग्र डूब जाती। उसकी दृष्टि में कृष्णकुमार देवता थे, मूर्ति की पूजा एकान्त मन से करना ही इस समय उसका सबसे बड़ा और सर्वप्रधान कर्त्तव्य हो गया था। कृष्णकुमार भी विनम्र भाव से इस पूजा को स्वीकार करते—जहाँ तक सम्भव होता! पूजा का उन्माद अधिक बढ़ने पर उन्हें, हारकर, अनीता की शरण लेनी पड़ती। उसके साथ बातचीत करके समय काट देना उनके लिए इस पूजा से बचने का एकमात्र उपाय था। दीनदयाल म भी वे, इधर, रस लेने लगे थे। जब दीनदयाल एक तरह से घर के ही प्राणी हो गये हैं तो उनसे हेल-मेल बढ़ाने में सर साहब ने कोई हानि नहीं समझी।

एक दिन रात को खाना खाने के बाद वे दीनदयाल के कमरे में आये। दीनदयाल उस समय एक पुस्तक पढ़ रहे थे, उठ बैठे। बैठते हुए सर साहब बोले—मास्टर साहब, रामकुमार की मुझे बड़ी चिन्ता है। मैं यहाँ रोज-रोज, हमेशा, आ नहीं सकता। शहर में रहते समय हरदम भगवान् से मनाया करता हूँ, वह मजे में रहे।

फिर थोड़ा रुककर कहा—पर, आपको तो यह स्थान कुछ पसन्द न आता होगा!

दीनदयाल—अरे नहीं नहीं, इसकी आप चिन्ता न करें। मैं यहाँ बड़ा प्रसन्न हूँ। हाँ, आपको उसकी चिन्ता तो होनी ही चाहिए!

न जाने क्यों कृष्णकुमार अव्यवस्थित-से हो उठे। माथे पर हाथ

फेरते हुए उन्होंने बात बदल दी। थोड़ी देर बाद जाते-जाते द्वार के पास रुककर बोले—कभी-कभी उसे अपने साथ घुमा-फिरा दिया कीजिए। मैं आप पर बहुत विश्वास करने लगा हूँ। उसे किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो मुझे लिख भेजिएगा।

उस रात दीनदयाल बड़ी देर में सो सके। न जाने कहाँ-कहाँ उनका मन भटकता रहा। कृष्णकुमार का व्यक्तित्व उन्हें असाधारण लगा! वे न तो किसी के लेने में थे न किसी के देने में! किसी से कुछ पूछते न थे और किसी की कुछ सुनते न थे! यहाँ तक उन्होंने जानने की चेष्टा न की कि दीनदयाल रामकुमार के लिए, कब, कैसे, कितने पर ट्यूटर रक्खे गये हैं और कब, क्या और कैसे पढ़ाते हैं! बिना कुछ जाने-सुने दीनदयाल को देखकर ही उन्होंने अपने मन में एक स्नेह का भाव बना लिया। दीनदयाल उन पर मुग्ध हो उठे। उन्हें लगा, सर साहब में गर्व, उल्लास, निष्कपटता और गम्भीरता, सब आकर मूर्तिमती हो गई हैं। जैसे वे दुनिया को चैलेंज दे रहे हों—जैसा मैं हूँ वैसा ही मुझे स्वीकार करो अन्यथा मुझे सर्वथा त्याग दो। मेरे लिए दोनों बराबर है। मेरे विचारों के मुताबिक़ चलकर ही मुझसे मित्रता हो सकती है अन्यथा नहीं। समझौता मेरे स्वभाव में नहीं है। यदि ऊपरी बातें देखकर ही निर्णय करने की तुम्हारी आदत है, अगर नैतिकता की तुम्हारी प्राचीन परिभाषा भूली नहीं तो तुम अपने रास्ते जाओ, मैं अपने रास्ते जाऊँगा। मुझे किसी की आवश्यकता नहीं है।

दीनदयाल ने पाया कि कृष्णकुमार उन लोगों में हैं जिन्हें एक जगह बन्द कर नहीं रक्खा जा सकता। उनका स्वभाव-वैचित्र्य प्रेमी है, पर एक बात उनके साथ जैसे सदा रहती है—जीवन के प्रति उनका प्रेम! सौन्दर्य का स्थान उनके जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण है और सौन्दर्य और यौवन उन पर सहज ही अधिकार पा जाते हैं। एक बात और भी! उनमें असाधारण निर्णय-शक्ति थी! जो सोच लेते, उसे कर डालने की क्षमता भी उनमें थी! प्राचीन नियम-बन्धनों की कितनी ही रूढ़ियाँ उन्होंने तोड़ डाली थीं और इस तरह कट्टरपंथियों के अपयश का भार माथे पर लिया था। और दीनदयाल जानते थे कि यह साधारण व्यक्ति

का कार्य नहीं है। इसके लिए बहुत बड़े साहस, बहुत बड़ी लगन की आवश्यकता है।....और अनीता भी तो है! जब से वह लौटी है, न जाने क्या बात है कि कुछ सबसे खिँची-खिँची-सी रहती है! झूठमूठ तरह-तरह की बातें करती है, बेमतलब और अवसर के हँसती रहती है, कृष्णकुमार उसके इस प्रसन्न मुद्रा पर रीझ-रीझ जाते हैं पर दीनदयाल की आँखें धोखा नहीं खा सकतीं! मालूम होता है, कोई बात उसे भीतर ही भीतर खाये जा रही है! हर समय उसे उस बात का डर लगा रहता है और उसे ही भूलने के लिए वह मौक़े बेमौक़े हँसा करती है, बातें करती रहती है।

एक दिन दीनदयाल जब डाक से आये हुए पत्रों को देख रहे थे, उसी समय अनीता वहाँ पहुँची। पूछा—कोई मेरा भी खत है?

एक पत्र उसके नाम था, दीनदयाल ने दे दिया। उसने उस पर रायटिंग देखी, गुस्से से पाँव पटका, फिर बिना खोलकर पढ़े ही उसे टुकड़े-टुकड़े कर फेंक दिया। भले ही वह तुरन्त वहाँ से चली गई पर उसकी क्षण भर की उत्तेजना और परेशानी देखकर दीनदयाल विस्मित हो रहे। यह क्या बात है? उस पत्र में क्या था? वह किसका पत्र था?

दस

अनीता का सौतेला भाई उपेन्द्र देखने-सुनने में बड़ा हृष्ट-पुष्ट था। वह कोमल, लम्बा, फ़ुर्तीला युवक था, मोटे कड़े बाल थे और बड़ी-बड़ी आँखें थीं। इन सबके साथ ही उसके मुख पर एक विचित्र स्त्रियोचित आभा रहती थी, जो उसकी पुरुषोचित मुद्रा के साथ मिलकर एक अजीव ही रंग पैदा करती थी। एकबार एक सज्जन ने उसे देखकर कहा था—सर कृष्णकुमार उसके पिता हैं यह तो साफ़ हो है पर साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि उसकी मा अतीव सुन्दरी थी!

दुनिया में कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके बारे में निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन होता है। उनकी आयु और उनका धन्धा बताना या उसका अनुमान तक लगाना कठिन होता है। उपेन्द्र भी उनमें से एक था। आयु उसकी चाहे जो रही हो, देखनेवाला केवल यही बता सकता था कि उसकी आयु पच्चीस से चालीस के भीतर ही कुछ न कुछ है। उसका काम भी कुछ ऐसा ही अनुमान लगाकर बता दिया जा सकता था। यदि आयु और धन्धे से ही आदमी के विषय में सब कुछ स्पष्ट हो सके तो कहना पड़ेगा कि व्यक्ति केवल एक पाषाण-दण्ड से अधिक कुछ नहीं है। इतिहासवेत्ता प्राचीनकाल के भग्न पाषाणों और मूर्तियों को देखकर ही न जाने क्या-क्या अनुमान कर लेते हैं! व्यक्ति के विषय में यह बात लागू नहीं हो सकती। वह पाषाण-स्तंभों से बड़ी और चेतन वस्तु है।

इस समय उपेन्द्र रामकुमार के कमरे में बैठा हुआ उसके साथ खेल रहा था। अपने साथ एक स्प्रिङ्गदार खिलौना लाया था जिसे रामकुमार को दिखला-दिखलाकर और उसे खेलने का ढंग बतलाकर उसे बहला रहा था। खिलौना एक थियेटरघर बना हुआ था, और उसके स्टेज पर बने हुए अभिनेता और अभिनेत्रियां स्प्रिङ्ग के भर जाने पर अभिनय-सा

करने लगते थे। खेलते-खेलते उसकी किसी बात पर प्रसन्न होकर रामकुमार उपेन्द्र के गले से लिपट गया और बोला--तुम कितने अच्छे हो! तुम्हारे जैसा लायक़ और कोई नहीं है!

उपेन्द्र ने उसे चूमते हुए कहा--नहीं, आजकल सब लोग एक से एक बढ़कर लायक हैं! दुनिया में लियाक़त इतनी सस्ती कभी नहीं हुई थी जितनी आज है।

रामकुमार उसकी यह बात समझ नहीं सका, केवल उसका मुंह देखता रहा। थोड़ी देर बाद पूछा--अच्छा, तुम आये कब?

उपेन्द्र--एतवार की रात को!

रामकुमार--आज कौन दिन है?

उपेन्द्र--आज मंगल है। कल दिन भर अपने कमरे में ही बन्द रहा, कई जरूरी काम थे। कल सुबह तुम्हारे पास आया था पर तुम सो रहे थे।

फिर वहां शान्ति हो गई। रामकुमार की समझ में ही नहीं आ रहा था कि वह क्या बात करे, बहुत तरह की बातें उसके नन्हे मस्तिष्क में आ-जा रही थीं। अन्त में, कुछ न कुछ तो बोलना ही होगा, यह सोचकर वह बोला--मा अभी नहीं आई!

उपेन्द्र एकबार चौंका और रामकुमार की ओर देखा, पर इस बीच वह खिड़की के बाहर देखने लगा था! उपेन्द्र ने कहा--क्या कहा? मा अभी नहीं आई! यही न?

रामकुमार--हाँ। उन्हें गये बहुत दिन हो गये। लेकिन अनू बहन यहाँ है, बाबू जी भी हैं। मुझे एक नया मास्टर भी रक्खा गया है।

उपेन्द्र--अच्छा! क्या तुम्हें वे मास्टर पसन्द हैं?

रामकुमार प्रसन्नता से उछल पड़ा--खूब पसन्द हैं, जरूर पसन्द हैं। बाबू जी ने उनसे कहा है कि मुझे वे कभी कभी घूमने के लिए ले जाया करें। वे मुझे बड़ी अच्छी अच्छी कहानियाँ सुनाते हैं। वे . . .।

फिर एकाएक रुककर बोला--तुम तो अब यहाँ बहुत दिन रहोगे न?

उपेन्द्र—हाँ, कभी कभी रहने के लिए आ जाया करूँगा। पर मुझे शहर में ज्यादा रहना पड़ता है। कभी कभी ही यहाँ आ सकता हूँ। काम के सिलसिले में मुझे और भी कई जगह जाना पड़ता है। और, अब तो तुम्हारे नये मास्टर भी आगये हैं। उनके साथ खेल-कूद सकते हो!

रामकुमार—अच्छा, यह खिलौना कहाँ रक्खा जाय?

उपेन्द्र—किसी टेबुल पर रख दो। मैं अपने कमरे का एक टेबुल यहाँ भेज दूंगा। यहाँ, इस कोने में रखवा दूंगा, उसी पर इसे रखवा देना।

उपेन्द्र इसी तरह की बातें, रामकुमार को खुश करने के लिए, करता जा रहा था। ऐसे बात कर रहा था जैसे रामकुमार उसी की आयु का हो, केवल इस बात का खयाल रखता था कि बातें ऐसी हों जिनसे वह ऊबे नहीं। परिणामस्वरूप रामकुमार भी बड़े रस के साथ बातों में योग दे रहा था। बड़े लोग जब गम्भीर होकर और अपने बड़प्पन का खयाल रखते हुए छोटों से—बच्चों से बातें करते हैं तो बच्चों की सहज बुद्धि भी उन्हें सुझाती है कि किस तरह बन-बनकर और चतुराई के साथ उनसे बात की जाय। पर यहाँ वह बात न थी। उपेन्द्र बिलकुल साधारण भाव से, रामकुमार के मन का खयाल रखते हुए बातें कर रहा था, तभी रामकुमार भी निष्कपट भाव से बातों में रस ले रहा था।

रामकुमार कुछ और पूछने ही जा रहा था कि दीनदयाल के साथ अनीता वहाँ आई। आते ही कहा—ओह, मैं समझती थी कि तुम यहीं होगे! यह क्या, भैया तुम्हारे साथ खेल रहे हैं? अच्छा है, ठीक ही है!

रामकुमार उस थियेटर के खिलौने के बारे में न जाने क्या-क्या कहने लगा। अनीता चुपचाप, उसके गाल से अपना गाल मिलाये, उसे अपने निकट खींच, उसकी बातें सुनती रही। उपेन्द्र खेलना बन्द कर उठा और दीनदयाल को, खिलौने के साथ का नक़शा दिखाकर,

बनानेवाले की बुद्धि की सराहना करने लगा पर दीनदयाल का ध्यान उधर नहीं था। वे केवल सुनते भर रहे । एक आँख उनकी अनीता और रामकुमार के सम्मिलित सौन्दर्य पर लगी हुई थी और मस्तिष्क उपेन्द्र को पढ़ पाने में व्यस्त था। उपेन्द्र की बोली उन्हें बड़ी आकर्षक लग रही थी। वास्तव में जिस दिन से उपेन्द्र आया था, उसी दिन से दीनदयाल उसकी ओर खिंच-से रहे थे और यद्यपि उसे आये अभी एक ही दो दिन हुए थे, तब भी मकान में अज्ञात रूप से उसके आने से कई परिवर्तन हो गये थे। एक तो यह कि सर साहब ने एक सप्ताह और गाँव में रहने का निश्चय कर डाला था। मीना ने गुस्से में तय कर डाला था कि वह कभी इस घर में अब पाँव भी नहीं रक्खेगी, सो, उसका यह क्रोध और दृढ़ निश्चय न जाने कहाँ लुप्त हो गया था और वह फिर आगामी सप्ताह यहाँ आनेवाली थी। कनककुमार शहर तो चला गया था पर कह गया था कि जल्दी ही फिर वापस आयगा। अनीता ने न जाने क्यों दीनदयाल से कह दिया था कि वह जहाँ कहीं भी जाय, उन्हें उसके साथ जाना पड़ेगा, क्योंकि वह उपेन्द्र के साथ अकेली नहीं रहना चाहती--नहीं, एक पल भी नहीं। इन सबके अतिरिक्त, इन्दिरा के स्वभाव में भी, न जाने क्यों, असाधारण परिवर्तन हो गया था। यह सब तो था पर दीनदयाल को एक बात निरन्तर चकित करती रहती थी। उसने देखा कि उपेन्द्र का यद्यपि सब ही लोग स्वागत कर रहे हैं, सभी उससे प्रसन्न हैं, पर जैसे उसके बारे में कोई कुछ नहीं जानता---सब जैसे उससे अपरिचित हैं! यह बात उन्होंने अनीता से एक दिन कही पर उसने जो उत्तर दिया वह अधिक सन्तोषजनक नहीं था। उसने कहा---हाँ, यह ठीक है। हम सब सच ही उनके बारे में अधिक नहीं जानते। जान ही कैसे सकते हैं! उन्हें बहुत दिनों से हमने देख भी नहीं पाया। जब हम छोटे थे, तब ही उन्हें देख पाते थे और वह भी केवल छुट्टियों के समय! यह शायद आपको याद होगा, मैंने आपको बताया था कि वे कनककुमार से नौ वर्ष और मुझसे तेरह वर्ष बड़े हैं। हमारे बचपन में वे कभी कभी आ जाते थे, कुछ दिन यहाँ रहते थे, फिर चले जाते थे। पढ़ाई समाप्त होने के बाद वे

काम पर चले गये। उस समय भी हम उन्हें केवल छुट्टियों में ही देख पाते थे।

दीनदयाल—पर यह तो तुम्हारी बात हुई। और लोग तो उन्हें अच्छी तरह पहचानते होंगे। आखिर तो वे इस घर के ही आदमी हैं!

अनीता—हैं तो, पर कोई भी उन्हें ज़्यादा नहीं जानता। उनके विषय में सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि वे कभी किसी से कुछ पूछते नहीं, कुछ जानने की चेष्टा नहीं करते। जैसे, उन्हें अपने आप सब कुछ मालूम हो। जानते वे सब कुछ हैं।

उपेन्द्र की बातें सुनते हुए दीनदयाल के मन में यही सब गूँज रहा था। कभी कभी वे उसकी ओर दबी आँखों से देख लेते थे—और उसे समझने की चेष्टा करते थे। अनीता रामकुमार के पास से हट आई, पूछा—भैया, तुम सीधे यहीं आये हो न!

उपेन्द्र—हाँ।

अनीता ने जैसे बड़ी खुशी से कहा—हमें कुछ करना चाहिए। भैया, मैं सोचती हूँ, एक पार्टी की जाय। रोज़-रोज़ एक ही तरह से दिन कटता है तो अच्छा नहीं लगता। बहुत दिनों से कोई आया गया भी नहीं—एकदम सन्नाटा है। भैया, कुछ सोचो। एक पार्टी करके कुछ लोगों को बुलाया जाय तो कैसा रहे! ज़रा, एक दिन कुछ भीड़भाड़ हो!

इसी समय, खिड़की के बाहर, उसे बाग़ में सर कृष्णकुमार टहलते दीख पड़े। उसने फिर कहा—भैया, तुम तब तक सोचो, मैं बाबू जी को भी बुला लाऊँ। वे भी कुछ सलाह देंगे।

एक मिनट बाद ही वह, बच्चियों की तरह, सर साहब से लिपटी हुई कमरे में आई। उपेन्द्र ने कहा—बाबू जी, अनू कहती है कि एक पार्टी की जाय। कुछ लोग इसी बहाने यहाँ बुलाये जायें। आपसे तो इसने कहा होगा!

सर कृष्णकुमार ने सिर खुजलाते हुए कहा—नहीं, कहा तो नहीं, पर मैं समझता हूँ, इसमें कुछ हर्ज तो नहीं है। हो तो सकता है।

हाँ, अगले सोमवार को मुझे चले जाना है, इसलिए जल्दी ही करनी होगी।

यह कहकर वे रामकुमार के पास चले गये और उसके पलँग पर बैठकर उससे बातें करने लगे। अनीता मन ही मन पार्टी की कल्पना में व्यस्त थी, कौन कौन आयगा, क्या क्या होगा, कहाँ 'अरेंज' की जाय आदि। यही सब बातें वह कमरे में टहल-टहलकर सोच रही थी। एकाएक खुश होकर बोली—मैंने एक बात सोची है बाबू जी, हममें से हर एक—अपने एक एक परिचित को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बुलायेगा। पर नाम किसी का किसी को नहीं बताया जायगा। इस तरह कुछ लोग आ भी जायँगे और सब एक दूसरे से अपरिचित भी होंगे।

वह दीनदयाल की ओर घूमी, कहा—आप समझे? आप अपने किसी जान-पहचान के आदमी को बुलाइए पर मुझे उसका नाम न बताइए। हम सब ऐसे ही करेंगे। देखा जाय, कौन कौन आता है!

अब कृष्णकुमार ने पूछा—पर इस भारी भीड़ को कुछ खिलाना-पिलाना भी होगा, यह भी सोचा है? कैसे खिलाओगी?

अनीता को स्वीकार करना ही पड़ा—हाँ, यह तो, मैंने नहीं सोचा!

उपेन्द्र ने प्रस्ताव किया—क्यों न सबसे कह दिया जाय कि सब लोग अपना अपना भोजन अपने साथ ले आयें?

'यह ठीक है।'—अनीता उछल पड़ी।

'पर चाय तो रखनी ही पड़ेगी!'—कृष्णकुमार ने कहा।

अनीता—चाय! हाँ, वह रहेगी! यह सभी जानते हैं कि आज-कल किसी के पास व्यर्थ के रुपये नहीं हैं। अगर रुपये हैं तो नौकर-चाकर नहीं हैं। चाय तो आसानी से हो सकती है, इस बहाने आज-के ज़माने में लोग आकर जुट भी जाते हैं। अच्छा, अगले शनिवार को संध्या समय यह पार्टी रक्खी जाय। वहाँ ग्रामोफोन रखवा दूँगी। थोड़ी देर तक सबका मन बहल जायगा। सब लोग आज ही अपने जान-पहचानवालों को लिख दें।

ग्यारह

अनीता की दावत का आयोजन,—हाँ, उसे दावत ही कहना सही है, भले ही लोग अपना अपना भोजन स्वयं लानेवाले थे,—तेज़ी से होने लगा। पर वह क्यों इस तरह पार्टी की आयोजना कर बैठी, क्यों इस तरह एक कार्य में व्यस्त हो गई, यह जान लेना कुछ बहुत कठिन न होगा। बहुधा देखा जाता है कि यदि व्यक्ति किसी समस्या को लेकर बहुत उधेड़बुन करता रहे और फिर भी कोई हल उसे खोजे न मिले तो उसका मन क्षणिक पलायन चाहता है, कोई ऐसा कार्य चाहता है जिसमें पहले कार्य की समस्या भुलाई जा सके। इस क्षणिक कार्य-परिवर्तन से उसे शान्ति मिलती है। अनीता को कौन-सी मानसिक चिन्ता या व्यस्तता थी, इसका आभास पहले दिया जा चुका है। हरेकृष्ण की बातों ने उसे परेशान कर रक्खा था। इस चिन्ता से परित्राण पाने के लिए उसे कुछ न कुछ करना आवश्यक था, भले ही वह कैसा भी काम हो, कितना भी छोटा हो। सो, उसने लगभग पागलपन की सीमा पर पहुँची हुई तेज़ी से पार्टी का प्रबन्ध शुरू कर दिया।

इन्दिरा से जब अनीता ने इस पार्टी की बात कही और यह भी कहा कि वह चाहे जिसको बुला सकती है तो इन्दिरा ने सहज ही कह दिया कि इस दुनिया में उसका कोई नहीं और वह किसी को नहीं बुलाना चाहती। उसने कविता की भाषा में कहा—मेरा कोई नहीं है बेटी—कोई नहीं। मैं किसको बुलाऊँ? मैं केवल अपने पिछले सपनों को, स्मृतियों को ही जानती हूँ—वे ही मेरे मित्र हैं। अब तो मेरी दावतें दूसरी दुनिया में ही होंगी। मैंने सब कुछ छोड़ रक्खा है, सब लोगों ने मुझे त्याग दिया है। लेकिन मैं जरूर तुम्हारी दावत में शरीक़ होऊँगी। पर इतना याद रखना, किसी से मेरा परिचय मत कराना, मैं किसी से नहीं मिलना चाहती!

दिन बीतते देर नहीं लगती, आज शनिवार है—पार्टी का दिन! सर कृष्णकुमार के उस गाँव के घर में आज बड़ी चहल-पहल मालूम देती है। चारों ओर, शहर से किराये पर लाकर, छोटी छोटी मेज़ें और कुर्सियाँ लगा दी गई हैं—मेज़ों पर टेबुलक्लाथ लटक रहे हैं। पार्टी का प्रबन्ध बाहर एक चबूतरे पर किया गया है। एक कोने में तिपाई पर एक ग्रामोफोन और कुछ रेकार्ड रक्खे हुए हैं। अनीता बहुत व्यस्त बनी घूम रही है, साथ ही दीनदयाल भी। उन्होंने भी, इन्दिरा की ही तरह, अपने किसी परिचित या मित्र को पार्टी में नहीं बुलाया है। पर उन्हें कुतूहल ज़रूर है, रह-रहकर मन में यही उठता है कि देखें कौन कौन, कहाँ से आता है! यह सारा व्यापार उन्हें एक रहस्य से भरा लगता था।

यद्यपि अनीता को यह स्वीकार नहीं था फिर भी सर साहब ने उसकी इच्छा के विपरीत ही शहर से एक होटल से दो ब्वाय बुलवा लिये थे और चाय का प्रबन्ध उन्हें ही सौंप दिया था। और सबसे बड़ी बात यह थी कि होटलवालों को रुपया पहले ही मिल गया था। दूसरा आश्चर्य इन्दिरा की उपस्थिति थी। इस समय उसके वस्त्र इतने भड़कीले और सुन्दर थे कि देखकर आश्चर्य होता था। चार बजने के थोड़ी ही देर बाद तीन मोटरें सर कृष्णकुमार के मकान के अहाते के भीतर आईं। प्रत्येक मोटर में कुछ युवक-युवतियाँ थीं। वे सब अजनबी की तरह उतरे और बिना एक दूसरे की ओर देखे पार्टी का जिधर प्रबन्ध था, उधर ही चले गये। केवल दो युवक ही—जो अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर जान पड़ते थे—किसी तर्क को लेकर उलझ रहे थे और चबूतरे पर चहलक़दमी करते हुए अपनी बात में लगे रहे। कुछ ही मिनटों बाद और लोग भी आये और उसी तरह, बिना एक दूसरे से बातें किये, पार्टी की ओर चले गये। जल्द ही, पार्टी के बहाने वहाँ तीस-चालीस व्यक्ति जमा हो गये—स्त्री भी, पुरुष भी। किसी का किसी से परिचय नहीं था और तभी कोई किसी को नमस्कार-प्रणाम भी नहीं करता था। हाँ—यह ज़रूर है कि सब एक दूसरे की ओर इस दृष्टि से देख रहे थे जैसे पूछ रहे हों—आप—तुम—कौन हैं। और इसका उत्तर भी

उसी दृष्टि से मिलता था! दीनदयाल ने पहले तो चेष्टा की कि किसी को पहचान सके, पर उनकी चेष्टा व्यर्थ गई।

उपेन्द्र चुपचाप अकेले एक टेबुल के पास बैठा था। उसने जिसको बुलाया था वह अभी नहीं आया था, इसलिए वह बैठा, सबकी बातें सुनकर मन बहला रहा था। उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं था क्योंकि कोई उसे पहचानता नहीं था और घर के लोग अन्य कहीं व्यस्त थे! उसने देखा—उसके पास ही थोड़ी दूर पर एक नाटा, मोटा, भूरे बालोंवाला व्यक्ति बैठा है, शायद उसे वह कुछ कुछ पहचान रहा था—उसका नाम था शायद देवेन्द्र! यह तय था कि सर कृष्णकुमार ने ही उसे बुलाया होगा। पर उसने निमंत्रण स्वीकार किया, यह आश्चर्य की ही बात थी, क्योंकि वह एक विख्यात संभ्रान्त व्यक्ति था! वह पास ही बैठी एक स्त्री से घुलघुलकर बातें कर रहा था। वह कह रही थी—हाँ, हाँ। मैं जानती हूँ। तुम्हारा मतलब गुरुदीन से है न! उन लोगों को क्या हुआ? क्या वे अभी तक वहीं हैं?

देवेन्द्र ने उत्तर दिया--ओह, हाँ। वे अभी भी वहीं हैं—ठीक..।

बात काटकर उस स्त्री ने पूछा—ठीक! ठीक के क्या मानी?

देवेन्द्र—कुछ दिन तो उनके यहाँ एक भी नौकर नहीं था, पर आजकल यह सब ठीक हो गया है। जैसे...।

उस स्त्री ने हाथ पर बँधी घड़ी देखी। देवेन्द्र भी ठीक उसी समय बात बदलकर बोला—हाँ, हाँ। ठीक है। मुझे भी तो जाना है। मैं तो केवल...तुम समझ गईं न! अच्छा, क्या श्रीमती कृष्णकुमार से आपकी भेंट हो चुकी? आइए, चलें!

वे उठकर चले गये। उपेन्द्र बराबर उनकी बातें सुन रहा था, फिर भी उसके मुख पर तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ। वह चुपचाप एक दर्शक की तरह बैठा हुआ यह सब दृश्य देख रहा था। किन्तु इसी समय लगभग बीस बरस की एक युवती ने उसे पुकारा—क्या आपने किसी...को देखा है?

'नहीं, मैंने नहीं देखा।'—उपेन्द्र ने उत्तर दिया।

पार्टी के समस्त टेवुल अब लगभग भर चुके थे। चारों ओर धुआँ और बातचीत का बाज़ार गर्म था। तरह तरह की बातें हो रही थीं। लगता था कि इस बीच लोगों ने स्वतः ही एक दूसरे से कुछ अंशों में परिचय प्राप्त करने की चेष्टा की है। कम से कम, बातों ने जो रूप धारण कर लिया था, उससे यही प्रकट हो रहा था। ग्रामोफोन किसी ने बजाना आरम्भ कर दिया. रेकार्ड बोल रहा था—'मैं जग से ठुकराया प्राणी, रहता सबसे दूर!'

एक युवक पुकार उठा—अरे, यह क्या चढ़ा दिया, रोना है या गाना! रेकार्ड बजता जा रहा था—

प्रेम-मग्न था मन जब मेरा, रहता था सब ओर सवेरा।
थोड़े ही दिन में ये सपने, हुए टूटकर चूर। मैं जग से...
प्रेम! प्रेम! आखिर यह क्या है, इस रहस्य का किसे पता है?
नाच उठा उस दिन मेरा मन, जैसे मुग्ध मयूर। मैं जग से...

उपेन्द्र ने अपनी आँखे मूंद लीं—बाहरी इन्द्रियों को बन्दकर वह भीतर ही भीतर अपने मनोभावों की छानबीन करने लगा, तभी उसने दीनदयाल को भीतर आते नहीं देखा। वे उपेन्द्र की ओर जाने लगे, तभी उन्होंने दीवाल से टिके एक व्यक्ति को, चुपचाप खड़े देखा। वे चौंक पड़े, फिर देखा! हाँ, निश्चय ही वह व्यक्ति महेशनारायण था! दीनदयाल उसके पास गये और कंधे छुए। महेशनारायण चौंक पड़ा—कौन! आप कौन हैं?

महेशनारायण की इस उपेक्षा पर दीनदयाल को आश्चर्य हुआ। कहा—तुम मुझे पहचानते नहीं महेश...मैं हूँ दीनदयाल।

'ओह—हाँ।'—महेशनारायण ने उसे ऊपर से नीचे देखते हुए कहा—ठीक है। पर तुम यहाँ क्या कर रहे हो?

दीनदयाल—अरे, तुम्हीं ने तो मुझे नौकरी दिलाई थी!

'नौकरी!'—महेशनारायण ने ऐसे कहा जैसे उसे कुछ पता ही न हो।

दीनदयाल—तुम्हें याद होगा, मैं तुमसे मिला था तुम्हारे आफ़िस में...।

बात काटकर महेश ने कहा—ओह, उस बेकार की चीज़ की याद न दिलाओ। मैंने वह सब दफ़्तर-वफ़्तर छोड़ दिया है, अब यह सब नहीं करता।

दीनदयाल की कुछ समझ में नहीं आया कि क्या कहें। थोड़ी देर बात शुरू करने का उपाय सोचते रहे, फिर बोले—तुम्हें किसने निमंत्रण दिया था महेश !

महेश—कनककुमार ने, और किसने ? वह कभी कभी मुझसे मिलता रहता है। मेरा मित्र ही समझो।

बातें करते-करते महेश जम्हाइयां लेता जाता था और ऐसे बात करता था जैसे दीनदयाल से नहीं बल्कि किसी और से बात कर रहा हो।

महेश—दीनदयाल, अब तो तुम यहाँ काम नहीं कर रहे हो न ?

दीनदयाल—मैं अभी भी यहाँ हूँ। रामकुमार का ट्यूटर !

महेश—रामकुमार ! हाँ, हाँ यही उसका नाम है ! तो, उसे पढ़ाते हो ? पर देखो दीनदयाल, मुझे यह पसन्द नहीं है। सर कृष्ण-कुमार ने कभी तुमसे कोई बुरा व्यवहार तो नहीं किया ?

दीनदयाल उसकी बातों से परेशान होते जा रहे थे। वह काफ़ी तेज़ बोल रहा था और उपेन्द्र, थोड़ी ही दूर पर बैठा था। दीनदयाल ने कहा—मैं यहाँ यह सब नहीं बतला सकता। इसके लिए . . .।

महेश—मुझे याद आता है, मैंने यहाँ आने के लिए तुम्हें मना भी किया था। खैर, यह सब ज्यादा दिन नहीं चलेगा, सर कृष्णकुमार को काम करने का तरीक़ा ही नहीं मालूम है। क्या सर साहब की पत्नी यहाँ नहीं हैं ? मैंने देखा नहीं।

दीनदयाल ने उधर देखा जिधर उपेन्द्र बैठा था। वह उठ गया था। धीरे धीरे वह महेश के सामने आया और कहा—मा यहाँ ही हैं।

यह कहकर वह पुनः अपनी जगह जाकर बैठ गया।

महेश इस आकस्मिक व्याघात से छत की ओर देखने लगा। फिर पल भर बाद दीनदयाल से कहा—दीनदयाल, यह कौन है ? आदमी तो अच्छा जान पड़ता है !

दीनदयाल—उपेन्द्र, सर साहब का लड़का।

महेश—सच! तब तो इससे मैं जरूर बातें करूँगा। मालूम होता है, यह मुझे जानता है।

दीनदयाल वहाँ से हटकर अनीता के पास पहुँचे। उस समय उसके पास चार और युवतियाँ उसी की आयु की बैठी हुई थीं और सब जैसे एक साथ बोल रही थीं। सभी फुर्तीली, सुन्दर, सुन्दर वस्त्राभूषणों से लदी थीं। बातें भी उनकी इधर-उधर की थीं, किसी में कोई शृङ्खला या नियम नहीं था। एक आयु के लोग जब मिलकर कहीं बैठते हैं उस समय उनमें जैसी बातें होती हैं, वैसी ही ग़पशप वहाँ हो रही थी। कौन ब्याही है, कहाँ ब्याही है, किसके पास मोटर है, कौन कब और कौन-सा सिनेमा देखने गया था, छुट्टियों में कौन कहाँ जा रहा है, किसके घरवाले क्या करते हैं, कौन कहाँ और किस क्लास में पढ़ रही है और किसकी साड़ी कितने की है, यही सब वहाँ हो रहा था। कभी कभी बड़े लाज से कोई यह भी स्वीकार कर लेता था कि उसका कोई प्रेमी भी है और वह पढ़ता है, वह कभी कभी उससे मिल पाती है, इत्यादि! यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में जल्दी मित्रता हो जाती है, घरेलू जीवन की कुछ ऐसी बातें होती हैं जो सर्वत्र समान हैं और उन्हीं के बल पर वे शीघ्र ही एक दूसरे के निकट हो जाती हैं। दीनदयाल को ऐसा मालूम हुआ कि सब मिलकर अनीता को बेवक़ूफ़ बना रही हैं—सबकी बातचीत का निशाना एक ही है। अनीता कहीं गई नहीं है, किसी को जानती नहीं, सिनेमा-थियेटर भी ज़्यादा नहीं देखा है, उसका कोई प्रेमी नहीं है—इत्यादि नागरिक जीवन के साधारण कार्यों को लेकर वे अपनी बातों से ही उसे लज्जित कर रही थीं। किन्तु इन सब बातों के बावजूद भी अनीता की आँखें चमक रही थीं, जैसे उस पर इन बातों का कोई असर ही न हो। अनीता ने दीनदयाल को देखा और वहाँ से उठकर उनके पास आई। दीनदयाल ने पूछा—अनीता, ये लड़कियाँ कौन हैं?

अनीता—ये सब मेरी पहले की मित्र हैं। पर जल्दी ही इन्होंने

मेरा साथ छोड़ दिया—इन्हें पता चल गया कि मैं इनकी हाँ में हाँ मिलानेवाली नहीं हूँ।

दीनदयाल—क्या वे एक ही घर की हैं ? मुझे तो सब एक जैसी लगती हैं।

अनीता—नहीं, वे एक घर की नहीं हैं, पर यह ठीक है कि सबकी सब एक ही तरह की हैं। कहा जाय तो कहा जा सकता है कि एक ही मा-बाप की वे सन्तान हैं, एक ही भाइयों की बहनें हैं। एक ही स्कूल में वे पढ़ती हैं, एक ही तरह के कपड़े पहनती हैं, एक ही तरह का उनका दिमाग़ है, एक ही तरह की बातें वे करती हैं। मुझे तो ऐसा लगता है, उनका बस चले तो वे एक ही आदमी से ब्याह करें, एक ही प्रेमी रक्खें, एक ही सन्तान की मा भी बनें, एक ही मकान में रहें और (हँसकर) शायद एक ही जगह मरें भी। वे इतनी ज़्यादा एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। मैं सोचती हूँ, मैं भी वैसी ही क्यों नहीं हुई ! वे देखिए, कितनी प्रसन्न हैं जैसे कोई मीठा स्वप्न देख रही हों। उनके पास रुपया है और वे सन्तुष्ट हैं। इसी की बातें करती रहती हैं।

फिर थोड़ी देर रुककर कहा—मास्टर साहब, अब मैं जाती हूँ। ज़रा मीना के मित्रों से भी बातें करूँ—वे बेचारे तब से अकेले बैठे हैं ! जितने लोग यहाँ आये हैं उनमें से आधे तो यह भी नहीं जानते कि यह पार्टी किसने दी है और कौन इस मकान का मालिक है ! कनककुमार तो एक लड़की के पीछे पीछे फिर रहा है, उसे किसी ओर देखने की फ़ुरसत ही नहीं है।

दीनदयाल—इनमें से कुछ लोग यहाँ आज रह भी जायँगे क्या ?

अनीता—शायद कुछ बेकार लोग रह भी जायँ ! जो लोग कुतूहल-वश आये थे वे या तो चले गये या जा रहे हैं। आपने महेशनारायण को देखा ?

दीनदयाल—हाँ, देखा।

वह चली गई और दीनदयाल अपने कमरे में चले गये। उन्हें कुछ देर के लिए विश्राम की बहुत आवश्यकता थी।

बारह

अनीता जब मीना के अतिथियों के पास पहुँची तो देखा, अधिकांश चले गये हैं। जो बाक़ी हैं, वे भी जाने ही वाले हैं।

अब वह इस सारी भीड़-भाड़ और शोरोगुल से ऊब चुकी थी। उसने सोचा, अगर दस मिनट के लिए अपने कमरे में जाकर वह आराम कर ले तो ज़्यादा अच्छा है। वह सबकी नज़र बचाकर, लायब्रेरीवाले कमरे में से होकर ऊपर चढ़ने लगी, पर उसने देखा, एक व्यक्ति उसकी ओर पीठ किये, चुपचाप खड़ा पुस्तकों के नाम पढ़ रहा है। भले ही उसकी पीठ इधर थी पर अनीता पहचान गई, और पहचानकर एकबारगी ही ठिठक रही। यह व्यक्ति हरेकृष्ण था!

मिनट भर तक दोनों एक-दूसरे की ओर देखते रहे—अनीता अर्द्ध-संदिग्ध-दृष्टि से और हरेकृष्ण विजयगर्व से! अन्त में अनीता ने रुकते-रुकते, धीरे से पूछा—आप यहाँ कैसे? मेरा मतलब है, तुम यहाँ...।

हरेकृष्ण—मैं बुलाया गया हूँ। अतिथि बनकर आया हूँ।

अनीता—यह झूठ है। मैंने तुम्हें नहीं बुलाया!

हरेकृष्ण—क्या बक रही हो? पार्टी अकेले तुमने ही तो नहीं दी है! मकान में और भी तो लोग हैं!

अनीता जैसे सम्हल गई। सच ही तो! हो सकता है, उसे किसी और ने आमंत्रित किया हो! उसने पूछा—तुम्हें पिता जी ने बुलाया है?

हरेकृष्ण—हाँ।

अनीता—पर तुम्हें नहीं आना चाहिए था।

हरेकृष्ण—क्यों? क्यों नहीं आना चाहिए था?

अनीता—इस 'क्यों' का उत्तर तुम अच्छी तरह जानते हो।

कुछ देर तक कोई नहीं बोला, दोनों चुप रहे। अनीता उसे ऐसे देखती रही जैसे वह उसका शत्रु हो। हरेकृष्ण उसे अपनी आँखों से खाये

जा रहा था । अन्त में उसने कहा—चलो अनीता, तुम्हारे कमरे में चलें।

अनीता ने जैसे बरबस ही कहा—नहीं, कोई ज़रूरत नहीं है।

हरेकृष्ण ने हँसकर कहा—मेरे कमरे के सामने ही तो तुम्हारा कमरा है !

अनीता—तुम्हारे कमरे के सामने ? यह क्या कह रहे हो ?

हरेकृष्ण—ठीक ही कह रहा हूँ। मुझे जिस कमरे में ठहराया गया है वह लगभग तुम्हारे कमरे के सामने ही पड़ता है। मैं यहाँ एक हफ़्ते रहूँगा भी तो, यह क्या तुम नहीं जानतीं ?

वह एक क़दम आगे बढ़ आई, ताज्जुब से पूछा—तुम यहाँ हफ़्ते भर रहोगे ?

हरेकृष्ण—हाँ, अभी कहा न ! और मुझे कमरा भी तुम्हारे पास ही मिला है ! शायद तुम्हारे पिता जी का इसमें कोई खास मतलब है ! मज़ाक़ तो यह हो नहीं सकता।

वह धीरे धीरे, अनीता के मुख पर दृष्टि गड़ाये ही गड़ाये ये बातें कर रहा था। लगभग प्रत्येक वाक्य के बाद वह ठहरकर देखता कि अनीता पर उसका क्या प्रभाव पड़ रहा है। जब उसने देख लिया कि अनीता का क्रोध, इस आखिरी बात को सुनकर उतर गया, तब उसने आगे कहा—यह तो अच्छा विचार था कि परिवार का हर आदमी एक एक व्यक्ति को आमंत्रित करे और नाम गुप्त रक्खे, पर तुमने शायद यह सोचा भी न रहा होगा कि इसका यह परिणाम होगा—मैं यहाँ टपक पड़ूँगा ! क्यों न अनीता !

यह कहकर वह जोर से हँस पड़ा। अनीता भी लगभग साथ ही चीख पड़ी—तुम चले जाओ। भगवान् के लिए यहाँ से चले जाओ

पहले तो वह हँसता रहा पर अब जो वह बोला तो उसके स्वर में अधिकार की मात्रा अधिक थी। उसने उँगली से अनीता को एक ओर दिखाकर कहा—चलो कमरे में, मुझे बातें करनी हैं।

अनीता ने जैसे मूर्च्छा में उसकी आज्ञा का पालन किया। वह भी पीछे पीछे कमरे में घुसा और दरवाज़े बन्द कर दिये। आवाज़ सुनकर

अनीता ने चौंककर देखा—द्वार बन्द है। उसने क्रोध से कहा—क्या तुम पागल हो गये हो? दरवाज़ा खुला छोड़ दो। कोई अगर मुझे खोजता हुआ आ जाय तो?

हरेकृष्ण—आने दो। बिना खटखटाये तो कोई भीतर आ ही नहीं सकता और खटखटाने पर तुम कह सकती हो कि तुम आराम कर रही हो।

अनीता ने पल भर सोचकर कहा—देखती हूँ, तुम मुझे जबर्दस्ती अपनी बात मनवाने पर तुले बैठे हो। क्या यह अच्छी बात है कि जो में न करना चाहूँ वही मुझे करना पड़े?

उसने उत्तर दिया—हाँ, अच्छी ही बात तो है। इससे तुम्हें भी खुश होना चाहिए। अपने मन की करते करते तुम ऊब उठी होगी!

अनीता—अपने मन की!

हरेकृष्ण—हाँ। मैं सर-परिवार की आत्म-प्रवंचना से परिचित हूँ।

कुछ मिनटों तक वहाँ शान्ति रही। फिर हरेकृष्ण ने मुसकराकर कहा—अनीता, क्या यह भी नहीं पूछोगी कि मुझे यहाँ आये कितनी देर हुई, कैसे रहा, क्या क्या किया, इत्यादि! तुम्हें तो यह पूछना चाहिए था।

अनीता ने रुक-रुककर धीरे से कहा—सच पूछो तो जब से लौटकर यहाँ आई हूँ तभी से मेरा चित्त ठीक नहीं है। मुझे पता लगा कि पिता जी ने तुम्हारे कारण ही रुपये पाये हैं, तुम्हारे साथ ही किसी व्यापार में लगे रहे हैं।

हरेकृष्ण—वह तो अभी और भी मेरे साथ कितना ही काम करेंगे! कर भी रहे हैं। पर मैंने उनसे अभी अपना और तुम्हारा सम्बन्ध नहीं बताया है और मैं समझता हूँ कि तुमने भी नहीं कहा है।

अनीता—पर तुम्हें उनसे इतनी दिलचस्पी क्यों हो गई है?

हरेकृष्ण—अनीता, एहसान भी तो दुनिया में कोई चीज़ है! यह क्यों भूल जाती हो कि तुमसे मैं पहले-पहल उनके मकान पर शहर

में ही मिला था। उसका वदला चुकाने के लिए ही मझे यह सब करना पड़ा।

वह एक कुर्सी पर जाकर बैठ गई। हरेकृष्ण उसे चुपचाप खड़ा देखता रहा। थोड़ी देर बाद वह चलकर उसके पास पहुँचा और कहा—अनीता, मैं तुम्हें लगभग एक घंटे से देख रहा हूँ। जब तुम उन चारों लड़कियों से बातें कर रही थीं, जब तुम उस मास्टर से . .।

अनीता—यह तुमने कैसे जाना कि वह मास्टर है?

हरेकृष्ण—मैंने एक आदमी से पूछा था।

इसके वाद फिर थोड़ी देर तक शान्ति रही। अनीता अस्तव्यस्त होकर उठी और कमरे में टहलने लगी। इस अनिच्छित आगंतुक को वह क्या करे यही वह नहीं समझ पा रही थी। एक बार उसके मुख से निकला—हरेकृष्ण, पर फिर तुरन्त ही वह अपने को सम्हाल गई और ज्यों की त्यों टहलने लगी। हरेकृष्ण, चुपचाप खड़ा उसे देखता तो रहा पर भीतर ही भीतर जाने क्यों वह उत्तेजित होता रहा। शायद एकान्त कमरे में एक अकेली युवती को पाकर ,उसका चित्त उद्वेलित हो उठा था।

हरेकृष्ण ने व्यंग्य किया—अनीता, मुझे इस तरह तुम्हारे शयनागार में देखकर लोग क्या कहेंगे? उस अनीता के शयनागार में, जिसके बारे में लोगों का खयाल है, उसका व्याह कहीं बड़ी अच्छी जगह होगा, किसी बहुत बड़े आदमी की वह बीबी होगी!

अनीता—मुझे जाने दो। लोग मुझे खोजते होंगे।

हरेकृष्ण—कोई नहीं खोजता होगा। ज्यादातर लोग चले गये हैं, यह तुम जानती हो।

अनीता चुप रही। हरेकृष्ण ने आगे कहा—हमारा हर मिलन विचित्र रीति से होता है। तुम हमेशा अस्वीकार करती हो, भागती हो और अन्त में तुम्हें झुकना पड़ता है।

अनीता क्रोध से उसकी ओर घूमी—तुम जानते हो, इसका कारण क्या है। न जाने कैसे तुम्हें यह पता चल गया है कि . . .।

हरेकृष्ण ने बीच में ही कहा, कि मैं तुम्हारे शरीर को चाहता हूँ। इससे तुम्हारा गर्व कम हो जाता है। लेकिन यह सच है। यद्यपि यह विचित्र-सी बात है पर सही है। यही बात है अनीता।

अनीता—पर मैंने तुमसे पहले ही कह दिया है कि मुझे तुमसे घृणा है। मैं तुम्हें प्यार नहीं कर सकती!

हरेकृष्ण—चुप रहो। यह सब जवानी बातें हैं। यह तुम नहीं कह रही हो, तुम्हारा शरीर नहीं कह रहा है, केवल तुम्हारा गर्व, तुम्हारा मिथ्या दम्भ बोल रहा है।

अनीता—यही सही, पर यह होकर ही रहेगा। मैं अब तुमसे कभी नहीं मिलूँगी। तुम्हारे बारे में सोचूँगी भी नहीं।

हरेकृष्ण धीरे धीरे हँसने लगा। कहा—अनीता, क्या तुम्हें साल भर पहले का वह दिन भूल गया जब मैंने पहले-पहल तुम्हें अपने मकान पर प्यार किया था? उस समय भी तो यही बातें तुमने कही थीं, मुझसे घृणा दिखाई थी, क्या वह सब भूल गया? उस समय भी तुम्हारा यही प्रण था कि मुझे फिर कभी न देखोगी! फिर मेरा तुम्हारा सामना तुम्हारे पिता ज़ी के यहाँ हुआ जब वे बाहर गये थे। उसके बाद हम किसी न किसी तरह बराबर मिलने लगे। तुम यही कहती रहीं कि तुम्हें मुझसे घृणा है। उस दिन मैं मोटर पर तुम्हें घर तक पहुँचाना चाहता था, पर तुम बीच में ही उतर गईं। क्यों? इसी लिए कि तुम्हें शर्म लगती थी कि कोई मेरे साथ तुम्हें देख लेगा तो ठीक न होगा। अब, भाग्य की बात है कि मैं यहाँ तुम्हारे घर में हूँ—तुम्हारे पिता जी का अतिथि बनकर। मैं कहता हूँ अनीता, तुम्हारा यह सारा गर्व एक दिन समाप्त हो जायगा और तुम पूर्णरूप से आत्म-समर्पण कर दोगी।

वह उठकर कमरे में टहलने लगा। अनीता चुपचाप उसका टहलना देखती रही। अन्त में उसने कहा—हरेकृष्ण—तुम जो कहते हो, तुम जो चाहते हो वह कभी नहीं होगा, कभी नहीं!

यद्यपि अनीता ने अपने स्वर में भारी निश्चय भरकर ये बातें कहीं, पर जैसे हरेकृष्ण पर उसका कुछ असर ही न हो, उसने उत्तर दिया—

आज से छः महीने पहले तुम यह बात कहतीं तो मैं मान लेता, पर आज तुम्हारी यह बात सुनकर हँसी आती है। तुम खुद ही सोच देखो, मैं ठीक कह रहा हूँ या नहीं।

अनीता इस बार बड़े क्रोध में आगई। उसने चिढ़कर कहा—तुम जब अकेले होते हो तो तुम्हारा व्यवहार नितान्त असभ्य होता है! इस पर भी कभी तुमने सोचा है।

हरेकृष्ण—चुप रहो। वाहियात बातें न करो। तुम भी तो सर-परिवार की ही हो न! यह जान लो कि सर कृष्णकुमार जैसे व्यक्तियों का युग बीत गया, अब तो मेरे जैसे लोगों का युग है।

अनीता अब यह डाँट पाकर ठण्डी हो गई थी। कहा—क्यों, दोनों में क्या अन्तर है?

हरेकृष्ण—पुराने लोग यही नहीं जानते कि उन्हें क्या चाहिए, कुछ चाहिए भी या नहीं। और हम लोग जानते हैं कि हमें क्या चाहिए—जो मुझे चाहिए वह मैं लेने जा रहा हूँ। वे लोग समझते हैं कि कोई जादू, कोई आश्चर्यजनक वस्तु उन्हें फिर पहले की हालत में परिवर्तित कर देगी, पर हम लोगों का—मेरा इन आश्चर्यों पर विश्वास नहीं है।

वह पीछे हट गई पर तुरन्त ही कहा—क्या ब्याह के बाद मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकती, यह समझते हो?

हरेकृष्ण—करने को तो बहुत कुछ हो सकता है, पर तुम कर नहीं सकतीं।

अ ीता—क्यों? क्यों नहीं कर सकती?

हरेकृष्ण—अभी जो लोग यह कहते हैं कि मेरे साथ तुम ब्याह कर ही नहीं सकतीं, उस समय उन लोगों के सामने क्या मुँह दिखाओगी? तुम्हारे गर्व को ऐसा करने में चोट लगेगी। आज तुम मुझसे लड़ रही हो, कल तुम्हीं मेरी सेवा करोगी।

कुछ रुककर उसने फिर कहा—अनीता, आज तक तुमसे अधिक मैंने किसी को नहीं चाहा। मैं एक व्यापार की बात सोच रहा हूँ जिससे

बहुत लाभ होने की सम्भावना है। ब्याह के बाद में तुम्हें दूर दूर घुमाऊँगा। पर, वह चाहे जो हो, ब्याह तो तुम्हारा मेरे ही साथ होगा, यह तय है।

अनीता—मैं फिर कहती हूँ, यह असम्भव है, बिलकुल असम्भव!

हरेकृष्ण—मैं तर्क नहीं करना चाहता चलो, बाहर चलें।

तेरह

पार्टी के दूसरे दिन रविवार पड़ता था। दुर्भाग्य से उस दिन पानी भी बरसने लगा। अभी तक बाहर के टेबुल वग़ैरह पूरी तरह हटाये नहीं गये थे अतः उन पर पानी पड़कर वे खराब भी हुए। ब्याह-शादी में अथवा दूसरे उत्सवों के अवसरों पर पानी बरसने से एक प्रकार की कैसी उदासी और निरुत्साहिता छा जाती है, यह इसके अनुभवी ही जानते हैं। यही यहाँ भी था, सब लोग जैसे उत्साह के सागर से निकलकर परेशानी और व्यस्तता के नद में जा रहे। फिर, परिवार के दो व्यक्ति तो स्पष्टतः ही उदास थे और उनके उदास होने का कारण भी था। अनीता पहले दिन के हरेकृष्ण के व्यवहार और उसकी बातचीत से परेशान थी, सर कृष्णकुमार इसलिए परेशान थे कि हरेकृष्ण के स्वागत का भार सीधे उन पर आ पड़ा था, और किसी ने इस काम में रस नहीं लिया।

अनीता दिन भर अपने कमरे में बहाना किये पड़ी रही कि उसके सर में दर्द है। वह इस समय भयंकर अन्तर्द्वन्द्व में पड़ी थी। एक ओर यह सोचती थी कि जब घर में वह अतिथि बनकर आया है तो सब कुछ भूलकर उसे उसका सत्कार करना चाहिए, अलग-अलग रहकर घरवालों को सन्देह का अवसर नहीं देना चाहिए, दूसरी ओर यह विचार उसके मन में उठ रहा था कि उसके सामने भी नहीं जाना चाहिए, क्या जाने दोनों को साथ देखकर परिवारवाले क्या कहें। कमरे के सामने तनिक भी शब्द होने पर वह चौंक उठती थी, कौन जाने वही आया हो और उससे नीचे चलने को कहे तो वह क्या करेगी! अस्वीकार करने का साहस उसमें कहाँ है? तब तो उसे जाना ही होगा! पर, सौभाग्य से ऐसा कुछ नहीं हुआ और वह ज्यों की त्यों पड़ी रही।

इन्दिरा कल पार्टी में बड़े उत्साह से भाग ले रही थी—यह बिलकुल ही भूल गई थी कि सर साहब जानेवाले हैं पर जब वह धूमधाम

और आनन्द-उत्सव समाप्त हुआ तो यही बात कठोर सत्य बनकर उसके सामने प्रकट हुई। उसका खयाल था कि कुछ भी हो, कम से कम सर साहब एकबार उससे प्यार से बातें करेंगे, एकबार तो उसे प्रेम का अनुभव करने का अवसर प्राप्त होगा पर हरेकृष्ण की उपस्थिति से यह असम्भव हो गया। जब तक वे रहे, बराबर हरेकृष्ण से ही बातें करते रहे। जब जब उसने सर साहब के पास मिलने के लिए दिखलवाया तब तब वे हरेकृष्ण से बातें करते मिले, उसे मन मसोसकर रह जाना पड़ा। एकबार बड़ी कठिनाई से उसे थोड़ा-सा अवसर मिला कि वह दो बातें कर पाये पर उन्होंने हँसकर बातें टाल दीं। कहा कि वे जल्दी ही फिर गाँव आयँगे तब बातें कर पाने का काफ़ी समय मिलेगा। इन्दिरा का रहा-सहा उत्साह भी मन्द पड़ गया। वह यह अच्छी तरह जानती थी कि ये केवल बातें ही बातें हैं—एकबार निकल जाने पर फिर वह महीनों तक न तो उनका कोई समाचार ही पा सकेगी और न उन्हें देख ही पायेगी।

कनककुमार ने जब सुना कि हरेकृष्ण यहाँ सोमवार तक रहेगा तो उसने महेशनारायण के साथ शहर चले जाने का ही तय किया। मन ही मन वह हरेकृष्ण को पसन्द नहीं करता था और सर साहब के साथ उसका मिलकर काम करना उसे पसन्द नहीं था। जब उसे पता चला कि पिता जी उसे अपना घनिष्ठ बनाते जा रहे हैं तो उसे यह जाने कैसा-सा लगा और इसी लिए उसने निश्चय किया कि यहाँ अब वह एक पल भी नहीं ठहरेगा। और यह उसने सबसे कह भी दिया। जाने के पहले उसने अनीता से कहा—यह अजीब बात है कि वह सूअर यहाँ ठहरा हुआ है। हर चीज़ की एक हद होती है। अगर पिता जी यह सोचते हैं कि उसके साथ मिलकर उन्हें धन मिलेगा तो ठीक है, काम करें, पर उसे यहाँ ठहराना और यों घनिष्ठ बनाना कहाँ तक उचित है! सब ही यह जानते हैं कि वह बिलकुल बाहरी आदमी है। मैं सही सही नहीं जानता, पर यह कह सकता हूँ कि वह अच्छा आदमी नहीं है। मैं समझता हूँ, तुम उसे बहुत अच्छा समझती हो? क्यों न?

अनीता व्यस्त हो उठी, कहा—ओह, मुझे इसमें न घसीटो!

मैं उसे चाहे जो भी समझूँ, कोई भी कुछ समझे, उससे होता जाता क्या है? पिता जी चाहेंगे सो ही होगा।

कनककुमार—यही बात तो मुझे और परेशान करती है, जो वह चाहते हैं वही होता है। कुछ भी हो, पिता जी मेरे जाने का कारण जानते हैं।

रामकुमार बच्चा तो था ही, कल की पार्टी में उसे बड़ा आनन्द आया था और रात को असाधारण रूप से देर तक जग जाने के कारण वह अब तक पड़ा सो रहा था। उपेन्द्र भी अपने कमरे में कुछ कर रहा था, अतः हरेकृष्ण को कोई बात करने को नहीं मिला। कल की अनीता की विरोधी बातों से, आश्चर्य है कि उसने बड़ी बड़ी आशायें बना रक्खी थीं।

दूसरे दिन सुबह कृष्णकुमार ने अनीता का दरवाज़ा खटखटाया। वह अभी तक कमरे के बाहर नहीं निकली थी। द्वार खुलने पर उन्होंने पूछा—क्या अभी तक तुम्हारे सर में दर्द है अनू?

अनीता—हाँ बाबू जी।

कृष्णकुमार—पर मुझे यह बात पहले नहीं मालूम हुई कि तुम्हारे सर में दर्द होता है!

अनीता—कभी कभी मुझे अक्सर यों ही दर्द हो जाया करता है।

कृष्णकुमार थोड़ी देर तक उसके सर पर हाथ रक्खे बैठे रहे, फिर कहा—हो सके तो बाहर निकलो—आज का मौसम भी अच्छा है। मुझे कुछ ही मिनट और समय है, मैं हरेकृष्ण के साथ जा रहा हूँ। उपेन्द्र भी शहर जा रहा है—तुम्हें मालूम है न?

अनीता—वे कहाँ हैं?

कृष्णकुमार—हरेकृष्ण के पास है। क्यों?

अनीता ने आँखें मूंद लीं। उन दोनों के साथ साथ रहने की कल्पना से उसे भय होता था। वास्तव में, उपेन्द्र की उपस्थिति के कारण ही तो वह इस तरह, अपने कमरे में बन्द पड़ी थी। तभी उसके जाने के समाचार से उसे प्रसन्नता ही हुई। तभी कृष्णकुमार के 'क्यों' पूछने पर उसने कहा—मुझे ताज्जुब हुआ!

अब कृष्णकुमार ने कहा—अनू, तुम्हारी मा चाहती है कि मैं उसके पास रहूँ। मैं जा रहा हूँ यह मैंने कल उससे कह भी दिया था। इससे अधिक मैं उसके पास नहीं रह सकता, यह तुम जानती हो। उसके पास मैं इस वक़्त जाना भी नहीं चाहता, जाकर फिर बारह बजे के पहले मैं वहाँ से निकल नहीं सकूँगा। एक काम कर देना अनू, उससे कह देना कि मेरा जाना बहुत ज़रूरी था, तभी मैं बिना मिले चला गया। कह दोगी?

अनीता क्या कहे, बोली—हाँ, कह दूंगी।

कृष्णकुमार ने उसकी पीठ थपथपाई, कहा—ठीक है। यह कभी न समझना कि मुझे तुमसे प्रेम नहीं है। तुम्हारे लिए मैंने बहुत कुछ सोचा है। अच्छा, क्या दीनदयाल यहाँ रहेंगे?

अनीता—मैं समझती हूँ, रहेंगे।

कृष्णकुमार—मैं भी चाहता हूँ, रहें।

थोड़ी देर बाद ही कृष्णकुमार गाँव से चले गये।

पति के जाने के बाद ही इन्दिरा पुनः ज्यों की त्यों हो गई, उसने एकान्तवास फिर से आरम्भ कर दिया। गाँव के घर में सब कुछ फिर उसी तरह हो गया जैसे दीनदयाल के आने के वक़्त था। अनीता और दीनदयाल फिर से अकेले रह गये। दीनदयाल को अनीता के साथ परिचय के प्रथम दिन याद आये, यद्यपि मन ही मन वे समझते रहते थे कि कोई परिवर्तन हो गया है या होनेवाला है। अनीता के स्वभाव में उन्हें कुछ बदला हुआ मालूम पड़ता था, उसमें एक नया भाव जान पड़ता था जिससे उसकी भावनायें और विचार सब ही परिवर्तित हो गये थे। दीनदयाल को लगता था, उसका वह सौन्दर्य तक बदल गया है, आँखों में, उन मादक आकर्षक आँखों में, जैसे किसी दृढ़ निश्चय की छाया जमकर बैठ गई है। पर परिवर्तन पाने का कारण केवल इतना ही नहीं था, एक बात और थी। दीनदयाल अनुभव करते थे कि अब वह एक मिनट भी अकेले नहीं रहती। पहले वह अकसर अपने कमरे में रहती थी या गाँव में ही इधर-उधर घूमती फिरती तो दीनदयाल घर पर रहते, पर अब वह एक मिनट भी उनका साथ

नहीं छोड़ती। अकसर ऐसा होता कि सुबह से लेकर शाम तक वह किसी न किसी बहाने उनके साथ-साथ लगी डोलती रहती। अकसर रातों को भी बारह एक उनके साथ ही गुज़ार देती। रामकुमार जब पढ़ता होता तो वह पास ही बैठती।

एक दिन रात को दीनदयाल बड़ी देर तक उसके साथ रहे। अभी-अभी अपने कमरे में गये ही थे कि द्वार पर फिर खटखटाहट का शब्द हुआ। यह अनीता थी। भीतर आकर थोड़ी देर तक वह अजीब दृष्टि से उनकी ओर देखती रही, फिर पास आकर एकदम पूछा—क्यों मास्टर साहब, आप मेरे कारण बहुत परेशान हो जाते हैं न?

'अनीता!'

'बोलिए मास्टर साहब, बात ठीक है न!'

'नहीं। बिलकुल नहीं। क्यों?'

अनीता ने कहा—मैं यह पूछना चाहती थी। मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे बराबर साथ-साथ लगे रहने से आप बहुत परेशान हो जाते हों।

दीनदयाल केवल उसकी ओर मूर्तिवत् खड़े ताकते रहे। वह आगे कहने लगी—तब ठीक है, मुझे प्रसन्नता है। आपके साथ व्यतीत की हुई ये रातें और ये दिन मुझे कभी न भूलेंगे। हो सकता है कि जल्दी ही हमें अलग हो जाना पड़े, पर इन दिनों की याद सदैव मेरे साथ रहेगी। न जाने क्यों आपके साथ बीता हुआ समय मुझे बड़ा अच्छा लगता है! पर मेरा यह सारा सुख नष्ट हो जाता, यदि मैं यह जान लूं कि आपको मेरे कारण परेशानी होती है। लेकिन मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप मुझसे भागने की चेष्टा नहीं करते, आपको मैं तंग नहीं करती। अच्छा, अब आप सोइए।

अनीता द्वार बन्द कर चली गई पर दीनदयाल चकित-से बैठे रह गये। सहसा ही एक रहस्य का पर्दा उनकी आँखों पर से उठ गया—वे अनीता को प्यार करते हैं, यह जैसे आज ही उन्हें मालूम हुआ। वे उसे हफ़्तों से—महीनों से—वर्षों से, शायद सृष्टि के आरम्भ से ही प्यार कर रहे हैं। वे जड़ आँखों से एकबार कमरे

को देखने लगे, ऐसे, जैसे अभी समाधि से उठे हों। सब कुछ बदल गया था—हर वस्तु उनके ऊपर हँस रही थी जैसे जो रहस्य उन्होंने आज जाना है उसे वे पहले से ही जानते हों। वे धीरे-धीरे उठकर खिड़की के पास आये और पर्दे उठा दिये। दूर पर आकाश में पीला चाँद लटक रहा था, वृक्षों की टहनियों की ओट से तारे जगमगा रहे थे, चारों ओर शान्ति और नीरवता का अखंड साम्राज्य था। समूचा अतीत जीवन उनके सामने खुला पड़ा था। जहाँ सब कुछ अस्त-व्यस्त और विशृंखल पड़ा हुआ था वहाँ अब सब नियमबद्ध और शृंखलित जान पड़ता था। भय, आश्चर्य और रहस्य से उनका मन भर गया। इस क्षण की उपेक्षा भले ही कर ली जाय, इसे भूला नहीं जा सकता। उन्हें लगा, इस एक पल में ही उनका जीवन और उनकी मृत्यु, दोनों हुए।

अनीता के प्रति अपने प्रेम का पता पूरा-पूरा उन्हें तब तक न लगा था जब तक कि वे एकदम अभिभूत नहीं हो गये। उनकी दशा ठीक वैसी ही थी जैसे कोई व्यक्ति कहीं जंगल में एक रात नींद के मारे पड़कर सो रहे, और उठने पर अपने को विपत्तियों में फँसा पाये। वे अपने को अनीता के विचारों से मुक्त करने की चेष्टायें बहुत करते पर चारों ओर से निराश होकर उन्हें यही लगता कि अनीता का अज्ञात बन्धन तोड़कर उनके लिए जाने की कहीं कोई राह नहीं है। छोटी-छोटी घटनायें, टूटे-फूटे शब्द, सब ही उनके सामने अनीता की स्मृति ताजी कर देते। पर एक विशेष बात थी। दीनदयाल का अनीता के प्रति यह प्रेम परिवर्तन में कुछ नहीं चाहता था, केवल इसी संतोष पर वह जीवित था कि वह प्रेम करता है। दीनदयाल के पास विशेष कुछ कहने को नहीं था, कोई चाह नहीं थी, कोई कार्यक्रम नहीं था, उनका व्यवहार अनीता के प्रति वैसा ही रहा। एक पुजारी का भगवान् पर जो अधिकार होता है, बस, उतना ही दीनदयाल अपने लिए अलम् समझते थे। अनीता ने उनके जीवन में प्रकाश भर दिया था और यही बस था।

अनीता और दीनदयाल एक तरह से घर में इस समय अकेले थे। इन्दिरा शायद ही कभी अपने कमरे के बाहर निकलती। रामकुमार

की पढ़ाई दिन भर में शायद एक-दो घंटे होती थी, बाक़ी का समय दोनों हँस-बोलकर, साथ-साथ बाग़ में टहल-घूमकर व्यतीत करते थे। दोनों को इस समय एक तरह से पूर्ण स्वतंत्रता थी। कभी-कभी जब पानी बरसता होता तो अनीता के कमरे की खिड़की में बैठे हुए दीन-दयाल और अनीता उस मोहक दृश्य को स्थिर दृष्टि से देखते रहते। पंछी वृक्षों पर फुदकते होते, पानी की बूंदों से छोटी-छोटी पत्तियाँ झड़ती होतीं, मादक वायु डोलती होती और वे उस मोहन वातावरण में, पास-पास बैठे, एक-दूसरे की ओर निहारा करते या कुछ बातें करते रहते। पर एक बात थी। अपने वर्तमान जीवन के विषय में अनीता कोई बात नहीं करती थी, मन ही मन वह जानती थी कि यह सुख अधिक दिनों न चलेगा। दीनदयाल भी यह समझते थे। किसी नाटक में बीच के विश्राम के समय दर्शकों की जो दशा होती है वही इस समय दोनों की थी। दर्शकों के मन में पहले के देखे हुए दृश्य घूमते होते हैं, आगे आनेवाले दृश्यों की सम्भावनायें असम्भावनायें कल्पित रूप में वर्तमान होती हैं और वे गत-आगत के बीच में उलझते रहते हैं। वही अवस्था दीनदयाल की और अनीता की थी। दोनों के मन में पहले के बीते हुए क्षणों की स्मृति जाग रही थी, आगे आनेवाले समय की कल्पना सिर ऊँचा कर झाँक रही थी। और इन दोनों के बीच में स्थिर ये दो प्रणय-मग्न प्राणी न जाने कहाँ जा रहे थे।

चौदह

बीच में कुछ दिन निकल गये। एक दिन सुबह अनीता एक पत्र लिये दीनदयाल के कमरे में आई, कहा—इसे पढ़िए।

पत्र अनीता की एक सहेली का था। उसने लिखा था कि वह ... में इस समय है और अनीता कुछ दिन वहाँ चली आवे। दोनों का जी बहलेगा। अनीता ने कहा—ये लोग बड़े अच्छे हैं।

दीनदयाल—ये लोग कौन?

अनीता—इस लड़की के घरवाले! मैं इसके साथ पढ़ती थी। उसके घरवाले एक बार यहाँ आकर ठहरे भी थे—कई वर्ष हुए।

दीनदयाल—तुम जाओगी अनीता?

अनीता—हाँ, सोचती हूँ कि हो आऊँ। अभी नहीं, थोड़े दिनों बाद।

अभी वे बात कर ही रहे थे कि पोर्टिको में मोटर का शब्द हुआ। अनीता ने खिड़की से झाँककर देखा—उपेन्द्र है। वह नीचे गई। दीनदयाल भी साथ ही गये। उपेन्द्र ने कहा—मैं यहाँ और पहले ही आगया होता पर मुझे बाहर चले जाना पड़ा। अभी भी मुझे बहुत कम समय है, पर मैंने सोचा कि मैं यहाँ हो लूँ। रामकुमार कैसा है?

अनीता—बहुत मजे में है—मास्टर साहब उसे खूब-खूब चाहते हैं।

उपेन्द्र को दूसरे ही दिन कनककुमार का एक तार मिला कि वह एक बहुत जरूरी बात करने यहाँ आ रहा है। मीना के साथ कनककुमार तीन बजे आ भी गया। उसे देखने से पता लगता था जैसे वह कोई गम्भीर विषय बात करने के लिए ले आया है और इतमीनान से उस पर बात करना चाहता है। बातचीत जब आरम्भ हुई उस समय सब लोग एक बड़े कमरे में बैठे थे। मीना इतना अधिक कपड़े लादें हुए थी कि उसका आकार-प्रकार लगभग दूना हो गया था। कनक-

कुमार ने जेब से एक पत्र निकाला और अनीता को दिखलाकर पूछा—तुम लोग यहाँ अखबार वग़ैरह तो देखती नहीं होंगी। हमें तो शहर में रहना होता है, सब कुछ देखना पड़ता है। देखती हो, क्या लिखा है? 'उन लोगों को लज्जा आनी चाहिए, जो जनता को आकर्षित करने के लिए पहले तो अपना नाम किसी व्यापार में दे देते हैं पर बाद में अलग हट जाते हैं!' भगवान् की यही कृपा है कि अखबारवालों ने साफ़-साफ़ उनका नाम नहीं लिख दिया। लेकिन इससे क्या होता है? जाननेवाले जानते ही हैं कि यह बात पिता जी के लिए, साथ ही उस व्यक्ति के लिए लिखी गई है जो उनके नाम को इस तरह बेच रहा है।

सब लोग थोड़ी देर तक चुप रहे। यह शान्ति कनक को बहुत बुरी लगी, उसने चिढ़कर कहा—तुम सब चुप क्यों हो? कोई कुछ बोलता क्यों नहीं?

अनीता ने उसे खुश करने की नीयत से कहा—क्या कहलाना चाहते हो?

मीना को छींक आ रही थी, उसे रोककर वह बोली—मैं समझती हूँ, कहीं इन सब कारणों से पिता जी को एक दिन जेल न जाना पड़े!

कनक—उपेन्द्र, तुम्हें कुछ नहीं कहना है? तुम कुछ नहीं कर सकते?

उपेन्द्र—क्या कहूँ और क्या करूँ, समझ नहीं पाता!

कनक—लेकिन ..... पर ....

उपेन्द्र—ठहरो कनक, क्या तुम समझते हो कि हमारे कुछ कहने या करने से पिता जी पर कुछ असर पड़ेगा? वे बदल जायँगे? जानते तो हो, वे कैसे दृढ़निश्चयी हैं। जब एकबार वे अपना रास्ता तय कर चुके हैं तो वे उसी पर चलते जायँगे। कोई उन्हें रोक नहीं सकता।

कनक—और हमारा जीवन भले ही नष्ट हो जाय?

उपेन्द्र—शायद यह भी हो तब भी वे अपना रवैया हमारे कहने

से नहीं बदलेंगे। बहस करना व्यर्थ है, इससे कोई लाभ नहीं होगा। फिर इसमें एक मज़ेदार बात भी है!

कनक ने आश्चर्य से पूछा—मज़ेदार बात! वह क्या है?

उपेन्द्र—आजकल यह समझा जाता है कि बूढ़े लोग—पचास के ऊपर के व्यक्ति—अपने नियम धर्म के पक्के होते हैं और युवकों का कोई आदर्श नहीं होता। मैं जानता हूँ, यह बिलकुल बेकार बात है, पर लोग तो ऐसा समझते ही हैं!

कनक—यह सब ठीक है, पर अगर पिता जी के पिता जी, यानी दादा ऐसा ही करते तो आज पिता जी कहाँ होते? यह भी कभी सोचा है?

उपेन्द्र—यदि पिता जी चाहते तो काफ़ी धन कमा सकते थे!

अब अनीता खुशी से बोल पड़ी—ठीक है, ठीक है। मैं भी ऐसा ही समझती हूँ।

मीना प्रतीक्षा कर रही थी कि उसके बोलने के लिए कोई समय मिले। अनीता के बोल उठने पर उससे न रहा गया। उसने व्यंग्यात्मक स्वर में कहा—तुम क्यों न समझोगी! तुम तो जैसे उनकी तारीफ़ करने के लिए उधार खाये बैठी हो। जानती हो न कि उनकी तुम्हें कभी न कभी ज़रूरत पड़ेगी।

मीना के इस अप्रत्याशित आक्रमण से क्षण भर के लिए तो अनीता विमूढ़-सी हो गई, पर तुरन्त ही अपने को सँभालकर बोली—यह तो तुम्हारे मुंह से ही निकलने की बात है! तुम्हारे सिवा और कौन इस तरह की बातें करेगा?

कनक ने चीखकर कहा—चुप रहो। मैं यह सब बातें करने यहाँ नहीं आया हूँ।

वह उपेन्द्र की ओर घूम गया और धीरे-धीरे उससे सर कृष्ण-कुमार के इस नये परिवर्तन के बारे में और उसके खतरनाक परिणाम पर बातें करने लगा। अनीता कुछ नहीं सुन रही थी, मीना की बात उसे सता रही थी। उसे एक भय और लग रहा था, कहीं मीना की बातों के पीछे से यह तो नहीं झांक रहा था कि वह अनीता और

हरेकृष्ण के सम्बन्ध की बातें जानती है ! पर अनीता जब-जब उससे मिली थी तब-तब वहाँ आस-पास मीना का कहीं पता भी न था— मीना उसे जानती तो कैसे जानती ! अनीता यह बखूबी जानती थी कि मीना मन ही मन, गाँव के ही एक पढ़े-लिखे युवक लक्ष्मण को चाहती है, और स्त्रियों का इस प्रेम की दशा में क्या हाल होता है, उनकी दृष्टि कैसी पैनी हो जाती है, यह भी वह जानती थी ! अनीता और मीना में कोई विशेष अन्तर नहीं था। अन्तर था तो केवल यही कि मीना लक्ष्मण के लिए अपने प्रेम को छिपाने का प्रयास करती थी और अनीता यह डरती रहती थी कि कहीं उसका यह भेद न खुल जाय कि वह शारीरिक दृष्टि से हरेकृष्ण को आत्म-समर्पण कर चुकी है ! थोड़े में, मीना स्वयं अपने को धोखा देती रहती थी, अनीता दूसरों को धोखे में रखने की चेष्टा करती थी।

इधर कनककुमार अपने प्लैन तैयार कर रहा था। उसका कहना था कि घर की आर्थिक परिस्थिति जानने का हम लोगों को पूरा-पूरा हक़ है। पिता जी को यह समझा देना चाहिए कि अगर वे इसी तरह अपने नाम को कीचड़ में घसीटते रहे तो, सब कुछ सत्यानाश हो जायगा। और माता जी के बारे में यह जो खबरें फैल रही हैं, उन्हें भी समाप्त होना चाहिए। अगर गाँव का यह घर बेचा ही जाय तो रुपये उन सबमें बराबर-बराबर बँट जाना चाहिए। नहीं तो पिता जी उसे भी नष्ट कर डालेंगे। उन्हें उस नीच हरेकृष्ण से भी सारा सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए और ज्योति से भी ताल्लुक़ नहीं रखना चाहिए। वही उनका सारा धन चौपट कर रही है। उपेन्द्र को चाहिए कि पिता जी को समझाकर ठीक राह पर लगाये। वही सबसे बड़ा है और उसे ही यह भार उठाना चाहिए।

इन बातों के बाद उसने हर एक की ओर आश्वस्त दृष्टि से देखा। उपेन्द्र चुपचाप झुका हुआ बातें सुन रहा था। किसी को बड़ा और बुजुर्ग कह देने से उसके मुख पर जो भाव आ जाते हैं, वही भाव इस समय उपेन्द्र के मुख पर भी था। सब उसका उत्तर सुनने के लिए उत्सुक थे। उपेन्द्र ने कहा—मैं अब सौधशिल्प का काम छोड़ देना

चाहता हूँ। फ़िलहाल जो काम में हाथ में ले चुका हूँ, उसके बाद फिर कोई नया काम नहीं लूँगा।

कनककुमार—तो . . . . तुम यह काम छोड़ दोगे?

उपेन्द्र—हाँ।

कनककुमार—क्यों?

उपेन्द्र—मुझे अब अच्छा नहीं लगता। क्यों, यह नहीं जानता।

कनककुमार—पर तुम्हें तो इस काम में विशेषता प्राप्त है!

उपेन्द्र—अनीता को भी अभिनय में दक्षता है—अपने स्कूल में इनाम भी पाया करती थी—पर वह स्टेज पर तो नहीं गई! मेरा मतलब यह नहीं है कि मैं तुम लोगों से सलाह ले रहा हूँ—मैंने तो अपना निश्चय बताया—मैं केवल यह कह रहा हूँ कि आजकल बहुत-से लोग अपने कार्यों को—अपने कार्यक्षेत्र को—व्यर्थ समझने लगे हैं। शायद पिता जी भी उन लोगों में से एक हैं। आज के जितने काम हैं सब बुद्धि के बल पर होते हैं, और पिता जी ज्ञानवान् नहीं हैं, वे केवल अपने स्वभाव के कारण ही काम करते हैं। आज के युग में अगर कोई व्यक्ति विद्वान् और गुणी नहीं है तो उसका काम नहीं चल सकता—लोग उसकी कोई इज्जत नहीं करते। दुनिया का सारा काम सधा-बधा, समझ-बूझकर और नाप-तौलकर होता है। गति ही एकमात्र साहस का काम रह गया है, और इसके लिए काफ़ी सतर्कता और सजगता की आवश्यकता है!

कनक मुँह खोले उपेन्द्र की ओर देख रहा था। उसने पूछा—यह सब तो ठीक है पर पिता जी से इसका क्या सम्बन्ध है?

अनीता—कहे जाओ, कहे जाओ उपेन्द्र! मैं तुम्हारी बातें समझ रही हूँ।

उपेन्द्र—मान लो, पिता जी ने यह देखा कि एक नया युग आगया है, जिसमें धन ही सब कुछ है, अर्थयुग, जिसमें रुपया ही सर्वप्रधान वस्तु है। सोचो ज़रा, उन्होंने सोचा कि इस नये युग से जो कुछ पा सकें, पा लें, ले लें। क्या अब भी नहीं समझे?

कनक ने चिढ़कर कहा—यह तो स्वार्थ है!

मीना—उन्होंने इस तरह सबको धोखा दिया—परिवार को, अपने जाति को, धर्म को, कुछ को! उपेन्द्र, तुम भी उन्हें इस तरह बचाने की चेष्टा क्यों करते हो? उनका व्यवहार कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता!

अनीता—तुम चाहो तो अपना नाम बदल सकती हो, ताकि कोई तुम्हें इस परिवार का न समझे!

कनककुमार—तुम्हारी इन बातों से तो यही प्रकट होता है कि तुम इस विषय में कुछ न करोगे?

उपेन्द्र—कुछ किया भी नहीं जा सकता। सुनो कनक, किसी व्यक्ति से व्यर्थ तर्क करके उसका स्वभाव नहीं बदला जा सकता।

थोड़ी देर तक वहाँ पूर्ण शान्ति रही। अन्त में चारों ओर से निराश होकर कनककुमार ने कहा—तो पिता जी का सब कुछ ऐसे ही चलता रहेगा? कोई कुछ नहीं कर सकता? बहुत अच्छा! मेरी ग़लती थी जो मैंने बात ही चलाई, अब कभी कुछ न कहूँगा। जो चाहे करें सबको जिन्दगी चौपट कर डालें, मुझे कुछ परवाह नहीं है। मेरी तबीअत भर गई। मैं नहीं समझता, हँसूँ या रोऊँ। इस परिवार के लिए एक ही उपाय है, और वह यह कि अनीता का कहीं अच्छी जगह ब्याह हो जाय। फिर, चाहे जो हो! मैं अब जाता हूँ, शायद ही फिर कभी यहाँ आऊँ! यही अच्छा है!

पन्द्रह

कनककुमार और मीना के जाते ही फिर सब शान्ति हो गई। अनीता जाने के लिए अपने कपड़े-लत्ते ठीक करने लगी, उपेन्द्र रामकुमार के पास चला गया और दीनदयाल अपने कमरे में चले गये। अनीता ने बातचीत के समय उन्हें बरबस रोक तो लिया था, पर अब वे सोच रहे थे, उनका वहाँ का प्रयोजन था। अनीता के जाने की बात से भी वे व्यस्त हो उठे थे। एक सिगरेट सुलगाकर वे कमरे में टहलते हुए सोचने लगे—अनीता जा रही है और अब वे फिर रामकुमार और इन्दिरा के साथ घर में अकेले रह जायँगे। इस समय बाहर पानी पड़ रहा था, बौछार की बूँदें खिड़की के शीशों पर पड़कर उन्हें याद दिला रही थीं कि आगन्तुक वर्ष उनके लिए भयानक है।

अनीता के प्रति अपने प्रेम का जिस दिन उन्हें आभास मिला था, उस दिन से सब कुछ भूलकर उन्होंने उसके साथ अधिक से अधिक रहना आरम्भ कर दिया था। इससे उन्हें एक प्रकार का सुख मिलता था। पर अब, जब कि अनीता जा रही है और उन्हें उसके बिना ही यहाँ जीवन व्यतीत करना होगा, तब उन्हें उसकी छोटी से छोटी बातें याद आने लगीं। वह पत्र भी याद आया जो उसके नाम आया था और जिसे बिना पढ़े ही उसने फाड़ डाला था। किन्तु इन सब बातों से भी बढ़कर रहस्य उनके सामने आ रहे थे। उन्होंने उस पार्टी की बात सोची जो अनीता ने इतने उत्साह से की थी। उस दिन थोड़ी देर के लिए जब अनीता अपने कमरे में चली गई थी, उसके बाद लौटने पर वह उदास और अनमनी-सी क्यों हो गई थी। मुख पर कुछ ऐसा भाव क्यों था जैसे वह सबसे डर रही हो, सबसे घृणा कर रही हो? दूसरे दिन लगातार अपने कमरे में ही क्यों बन्द रही? यह क्यों कहा कि वह यहाँ से कहीं दूर चली जाना चाहती है? दीनदयाल को लगा, जैसे अनीता के जीवन में कोई बहुत बड़ा रहस्य है जिसे वह किसी

से बताना नहीं चाहती। यह तय है कि वह केवल आनन्द के ही लिए यहाँ से नहीं जा रही है, बल्कि किसी वस्तु से डरकर भाग रही है।

दीनदयाल पर एक तरह की विमूढ़ता छा गई। वह चली जायगी और उन्हें चुप ही रह जाना पड़ेगा। वह उसे प्यार करते हैं, फिर भी, कुछ कर नहीं सकेंगे। दीनदयाल ने अकेले ही खाना खाया और उसके बाद अपने कमरे में चले गये, पर उनका जी न लगा। वे तुरन्त ही उठकर उपेन्द्र के कमरे के द्वार पर पहुँचे और खटखटाया। द्वार खोलते ही उपेन्द्र ने कहा—अरे, मास्टर साहब, मैं तो खुद ही आपके पास आ रहा था। मुझे कुछ बातें करनी हैं। बैठिए, मैं सिगरेट देता हूँ।

दीनदयाल बैठ गये। उपेन्द्र काग़ज़-पत्र हटा-हटाकर जगह साफ़ करने लगा और तब कहीं से सिगरेट का डब्बा और दियासलाई निकालकर उन्हें दी। थोड़ी देर तक फिर अपने काम में व्यस्त रहा और तब, दीनदयाल के सामने बैठते हुए कहा—आज की बातों से आपको बड़ी परेशानी हुई होगी। क्यों न?

दीनदयाल—परेशानी तो नहीं, हाँ, आश्चर्य ज़रूर हुआ।

उपेन्द्र—कनककुमार का कहना सही है, पर उसे स्वयं पिता जी से कहना चाहिए। उसे ही उनके पास जाना चाहिए।

दीनदयाल—क्यों?

उपेन्द्र—वह कुछ समझता नहीं। वह जानता है कि उसे एक शिकायत है, यह भी समझता है कि उसे दूर करना ही होगा, वह क्रोध और घृणा से अभिभूत है—फिर भी वह कुछ समझता नहीं, यही कहना होगा। उसमें सब गुण हैं, केवल एक बात की कमी है।

दीनदयाल हँसे, कहा—ठहरिए, मुझे धीरे-धीरे समझने दीजिए। पहले यह बताइए कि उसमें कमी क्या है?

उपेन्द्र—साहस!

दीनदयाल—साहस से इस बात का क्या सम्बन्ध है?

उपेन्द्र—आप स्वयं ही यह समझ सकते हैं।

दीनदयाल को अनीता की याद आई और वे चुप हो गये। वे उसका रहस्य यद्यपि जानते नहीं थे लेकिन इतना विश्वास उन्हें ज़रूर

था कि कोई न कोई गुप्त बात ज़रूर है और वह उसे छिपा रही है। यहाँ भी उन्हें साहस का अभाव दीखा। वे स्वयं भी तो अनीता को प्यार करते हैं, पर साहस के अभाव के कारण ही तो कुछ कर नहीं पाते! उन्हें लगा जैसे उनका मन कह रहा है—'दीनदयाल, तुम अनीता से प्रेम करते हो फिर भी उसके लिए कुछ कर नहीं सकते। लाचार हो। उसकी समस्या की गुरुता समझ सकते हो, बस, पर उसे दूर कर पाने का या उसे जान ही लेने का साहस तुममें कहाँ है?'

उपेन्द्र ने कहा—यही बात है और इसे समझ लेना बहुत सहल है। एक व्यक्ति का जब विशेष अवस्था तक मानसिक विकास हो लेता है तो किसी स्वेच्छाचारी कार्य से उसमें खतरा ही पड़ता है। खैर, हम अपनी बात करें। कनक को भय है, यह पहली बात है।

दीनदयाल—लेकिन किस बात का भय है, यह मैं नहीं समझता।

उपेन्द्र—सब बातों का भय है। वह इस परिवार का व्यक्ति है, इसी पर जैसे उसकी सब आशायें केन्द्रित हैं। मीना की बात लें। मैं जानता हूं, वह मन ही मन लक्ष्मण को चाहती है, किन्तु डरती है, साहस के अभाव से कह नहीं पाती। अनीता को भी किसी बात का भय है, यह तय है, यद्यपि मैं उसके भय का कारण नहीं जानता।

दीनदयाल—लेकिन आपको यह कैसे मालूम हुआ?

उपेन्द्र—हम दोनों इतना अधिक साथ-साथ रहे हैं कि उसकी मुखाकृति से ही मैं उसके मन की बात जान ले सकता हूँ। रह गई माता जी की बात, सो वे भी एक भ्रम में हैं। वे समझती हैं कि उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ, पिता जी भी वैसे ही बने हुए हैं, सब कुछ उसी तरह है जैसा ब्याह के समय था। बीच के इतने वर्ष, सन्तान, आर्थिक संकट, पिता जी की कमजोरियाँ, इन सबका उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, वे ज्यों की त्यों स्थिर हैं। एक सपने में जैसे वे रहती आई हैं। उसी स्वप्न को लेकर वे सबसे अलग, एकान्त में सन्तुष्ट भी रहती हैं। क्या यह कल्पना और स्वप्न की बात नहीं है? उनकी स्मृतियाँ उनके लिए रोज़ दुनिया गढ़ती रहती हैं, वह दूसरी दुनिया की बात भी नहीं

सोच सकतीं। कभी आपको उनके साथ अकेले इस मकान में रहने का अवसर मिला है ?

दीनदयाल—हाँ, एकबार। जब अनीता बाहर गई थीं।

उपेन्द्र—उन्होंने आपसे तब कुछ बातें की थीं ?

दीनदयाल—एक दिन अपने कमरे में बुलाया था।

उपेन्द्र—मैं यह समझता था। खैर, मैं यह जानना चाहता हूँ कि मैं या कोई भी इस मामले में क्या कर सकता है ? सब बात की बात यह है कि अगर कोई व्यक्ति हम पर विश्वास करता है तो वह कभी अवसर आने पर हमसे कोई बात कर सकता है, किन्तु यदि कोई अपने तईं अपने को बन्द रखता है तो यह तय है कि वह किसी की न सुनेगा, स्वयं अपने रास्ते जायगा। हम अपने से कोई काम नहीं करते जब तक हम उसके लिए प्रेरित न किये जायें। तभी, मैं यह भी मानता हूँ कि जब तक व्यक्ति अपने जीवन से सर्वथा निराश न हो जाय तब तक धर्म का उसके लिए कोई मूल्य नहीं हो सकता या नहीं होना चाहिए।

दीनदयाल ने सिगरेट फेंककर दूसरी सुलगाई। पूछा—यहाँ क्या होगा, यह आप बतला सकते हैं ?

उपेन्द्र—यहाँ भी वही होगा जो सब जगह होता है। जैसे, चल रहा है वैसे तो नहीं ही चलेगा, परिवर्तन होगा पर कब होगा या क्या होगा, यह नहीं कहा जा सकता। क्या करना चाहिए और कब करना चाहिए, यह तो कोई नहीं जानता ! रहने की कला किसी को नहीं मालूम है और तभी हम सब ही अपने अपने रास्ते पर चल रहे हैं। सभी पागल हैं। और इस परिवार के लोग उस कोलाहल के मूर्तिमान् प्रतीक हैं।

दीनदयाल ने कहा—मैं समझता हूँ, आप ठीक ही कह रहे हैं। मैंने अपने जीवन में एक बात का अनुभव किया है और वह यह कि मुझसे अवकाश या समय का अपव्यय मिलता नहीं। मेरे लिए कठिन हो जाता है। इसी लिए, मैं इधर-उधर यात्रा करता फिरा, वह भी मुझसे न बना।

उपेन्द्र—वर्तमान को अनुभव करने का साहस ही हममें नहीं है। हम सत्य से असत्य की ओर एक छलाँग में ही चले आये हैं। प्राचीन कुछ अब कहीं नहीं रहा। हमें जीवन में इतना अनुभव हुआ है कि भावना के लिए कहीं स्थान ही नहीं रह गया। उत्तेजना और ज्ञान की खोज में हम खानाबदोशों की तरह इधर-उधर घूम रहे हैं। आजकल यह आम बात सुनी जाती है कि लोग पहले की अपेक्षा अधिक सुखी और प्रसन्न हैं। आश्चर्य है कि उनके मुखों से यह प्रसन्नता और सुख प्रकट नहीं होता। मशीन-युग का परिणाम ही इसका कारण बताया जाता है। मेरा ख्याल है, व्यक्ति की भावनायें ही इसका प्रमाण हो सकती हैं, न कि उसे क्या मिला है। अगर एक आदमी यह समझता है कि उसका जीवन, उसके स्वप्न, उसका संघर्ष और उसकी चिन्तायें कुछ अर्थ रखती हैं, तो वह इस अर्थ में प्रसन्न कहा जा सकता है कि यह सब उसके लिए 'सत्य' हैं, वह इनका अनुभव करता है। किन्तु यदि वह समझता है कि उसका जीवन व्यर्थ है, तो उसकी सारी सम्पत्ति, बँगला, दास-दासी, सब बेकार हैं।

दीनदयाल ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—मैं इसे स्वीकार करता हूँ। जब मुझे भी ऐसा ही अनुभव होने लगा तब मैं महेशनारायण के पास काम की तलाश में गया था। जब से यहाँ आया हूँ, तब से मेरे चारों ओर जैसे एक नाटक हो रहा है जिसे मैं देखता तो हूँ, पर समझ नहीं पाता।

उपेन्द्र हँसा, कहा—और जब अभिनेता, अभिनेत्रियाँ अपना कृत्रिम रूप त्यागकर असली हालत में आ जाते हैं तब क्या होता है?

दीनदयाल—तब नाटक और भी रहस्यमय हो जाता है। कुछ भी हो, मैं इस परिवार से विचित्र रूप से जुड़ गया हूँ।

उपेन्द्र—आपने महेशनारायण की बात कही। वैसे आजकल बहुत-से लोग हैं। वे भावनाओं से शून्य हैं, केवल मस्तिष्क के बल पर चलते हैं। इनका कोई सिद्धान्त नहीं होता, कोई आधार नहीं होता, ये केवल बुद्धिवादी होते हैं। उनका मस्तिष्क सजग होता है और वे दूसरों का

छिद्र देखने में ही सुखी रहते हैं। सांसारिकता, या यों कहें कि शारीरिक सुख ही इस बुद्धिवाद का नया धर्म है।

दीनदयाल—आपकी बातें सच हैं। महेशनारायण को मैं वर्षों से जानता हूँ पर वह ज्यों का त्यों है, ज़रा भी बदला नहीं।

उपेन्द्र—परिवर्तन या तो प्रगति का सूचक होता है या पतन का। महेशनारायण के पास केवल कल्पनायें ही हैं। कल्पनाये विचारों के स्थान पर होती हैं और आसानी से दूर भी कर दी जा सकती हैं।

यह कहकर वह उठा और खिड़की खोल दी। बाहर झाँककर देखने लगा। पानी बरसना बन्द हो गया था और चांदनी मे बूंदों से लदी वृक्षों की डालें चमक रही थीं।

रात को वड़ी देर में दीनदयाल अपने कमरे में आये। उन्होंने अपने कपड़े उतारे और सोने जा ही रहे थे कि उन्हें लगा, अनीता अपने कमरे में रो रही है। पर क्यों, यह वे नहीं जान सके।

सोलह

'लेकिन सब लोग गये कहाँ?'--रामकुमार ने पूछा।

रामकुमार के इस प्रश्न पर दीनदयाल कुछ व्यस्त हो उठे। उस छोटे बच्चे को क्या उत्तर दें, यही सोचने लगे। पर कुछ न कुछ उत्तर देना ही होगा, यह सोचकर बोले—अनीता और उपेन्द्र कहाँ हैं, यह तो तुम जानते ही हो। उन्होंने तुम्हें खत भी तो लिखा है।

रामकुमार--हाँ, ठीक है, पर बाबू जी और मा?

दीनदयाल--उन्हें तुम्हें देखे बहुत दिन हुए, क्यों न! पर अब वे जल्दी ही आ जायँगे।

रामकुमार खिड़की के बाहर देखने लगा। थोड़ी देर बाद कहा—जब सब ही लोग चले गये हैं, कोई मेरे पास नहीं आता तो हमीं लोग क्यों यहाँ हैं?

दीनदयाल--तुम्हारे बाबू जी इस मकान को बेच डालने की तैयारी कर रहे हैं।

रामकुमार—तो कोई खरीद क्यों नहीं लेता?

दीनदयाल—लोग आजकल इतने बड़े-बड़े मकान खरीदना नहीं चाहते, इसी लिए देर हो रही है।

रामकुमार--क्यों नहीं खरीदना चाहते?

दीनदयाल—बहुत रुपये लगते हैं न!

रामकुमार थोड़ी देर तक कुछ सोचता रहा, फिर कहा—तो फिर, हमारे पास बहुत-से रुपये हैं न!

दीनदयाल—हाँ, हाँ।

रामकुमार इस समाचार से खिल उठा। पूछा—तो बाबू जी और मा कहीं और रह रहे हैं?

दीनदयाल क्या जवाब दें! उन्हें सबसे बड़ी परेशानी यही थी कि रामकुमार बरबस आरम्भ से ही अपने समवयस्क बालकों से

अलग रखा गया था। उसकी इस एकान्तावस्था को दूर करने के लिए उन्होंने कितनी ही बार चेष्टायें की थीं पर यहाँ की परिस्थिति ऐसी थी जिसमें यह सम्भव नहीं था। उन्होंने मीना से भी इस बात के लिए कहा, पर वह जैसे इनकी बात सुनना ही न चाहती हो। सर परिवार ने अपने को लोगों से इतना अलग-अलग और कटा हुआ रक्खा था कि रामकुमार को अपने समवयस्क बालकों का साथ न मिल पाना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। दीनदयाल जब यह देखते कि बालक रामकुमार की कितनी उपेक्षा हो रही है, उस आयु में, जिसमें सतर्क निरीक्षण और सजग चिन्ता की आवश्यकता है, वह बिलकुल एकान्त में केवल दाई के भरोसे छोड़ दिया गया है, तो उन्हें बहुत दुख होता। बच्चों की मानसिक उन्नति भला इस दशा में कहीं हो सकती है? फिर, बालक यदि शरीर से अक्षम न हो तो स्वयं हाथ-पाँव चलाकर और देख-सुनकर बहुत कुछ बातें जान और समझ सकता है, किन्तु एक ऐसा बालक जो शरीर से भी असमर्थ है, वह भविष्य में क्या कर सकेगा? रामकुमार बिलकुल बालिका-सा दीख पड़ता, चुपचाप एक कोने में पड़ा रहता और यदि कोई उसके पास खेलनेवाला पहुँच जाता तो ऐसा प्रसन्न होता जैसे स्वर्ग मिल गया हो। दीनदयाल की सहानुभूति उसके प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी और वे हर तरह से इस बात की चेष्टा करते कि वह अकेला न अनुभव करे।

थोड़ी देर तक चुप रहकर, और दीनदयाल की बातों से भी अपने प्रश्न का समुचित उत्तर न पाकर रामकुमार ने कहा—उपेन्द्र भाई कहते थे, अगर मैं चलने-फिरने लायक़ न भी हुआ तब भी कोई हर्ज नहीं है।

दीनदयाल ने पूछा—उन्होंने ऐसा क्यों कहा?

रामकुमार—वे कहते थे, जो लोग चल भी सकते हैं वे भी नहीं चलते, क्योंकि लोगों ने मोटरें रख ली हैं, इसलिए मेरा न चल पाना कुछ बुरा नहीं है। क्या अच्छा होता, यदि एकबार में दौड़ पाता! बस, एकबार!

दीनदयाल सोचने लगे, इस नन्हें से बच्चे की कामना कभी पूरी होगी? जब उसे छोड़कर वे इन्दिरा के पास चले तो रास्ते में सोचने लगे, अभी साल भर पहले उनका जीवन क्या था और आज क्या है! इन्दिरा--रामकुमार--यह गाँव, सब जैसे वर्ष भर पहले उनके लिए स्वप्न थे, आज कितने पास हैं, और साल भर बाद क्या होगा, यह कौन जाने! कुछ पता नहीं कि वे कहाँ रहेंगे, क्या करते रहेंगे! इस समय तो परिस्थितियों के हाथ में वे कठपुतले बने हुए थे और वे उन्हें नचा रही थीं। वे जानते थे कि वे अनीता को प्यार करते हैं और उन्हें यहाँ गाँव में ही रहना चाहिए किन्तु इन दो निश्चित बातों के अतिरिक्त और सब कुछ अनिश्चित था।

यह तय था कि सर परिवार की आर्थिक दशा दिन पर दिन खराब होती जा रही है—यहाँ तक कि एक दिन उसका निश्चित प्रमाण भी मिल गया। अभी तक शहर से पेट्रोमैक्स आया करते थे और मकान में रोशनी होती थी, उसके बाद कहीं से प्रबन्ध करके कुछ पेट्रोमैक्स खरीद लिये गये थे और घर पर ही जला लिये जाते थे। पर एक दिन यह सब बन्द हो गया। इन्दिरा को इससे सबसे अधिक प्रसन्नता हुई। इस घटना के बाद दीनदयाल से भेंट होने पर उसने कहा--चलो अच्छा हुआ, इस कम्बख्त पेट्रोमैक्स से पिण्ड छूटा। अब तो मैं कभी उसे नहीं जलाऊँगी। मैं हमेशा से ही उसे बुरा समझती रही। मोमबत्ती में कुछ भी हो, कम से कम वह अपने बस की तो बात है।

दीनदयाल यह तो समझे कि मोमबत्ती अपने बस की बात है, पर यह उनके समझ में नहीं आया कि अब वे अपना काम कैसे चलायें। आदत पड़ गई थी प्रखर प्रकाश में रहने की, अब यह मोमबत्ती के क्षीण प्रकाश में तो उनसे कोई काम ही नहीं हो पाता। उन्हें यह भी याद आया, एकबार एक जगह वे अन्धकार के कारण गिर भी पड़े थे। उन्होंने इधर-उधर पता लगाया कि पेट्रोमैक्स न जलने का कारण क्या है। पता लगा कि तेल का दाम बहुत दिनों से नहीं चुकाया गया है, तभी तेल न आ पाने की वजह से पेट्रोमैक्स नहीं जल रहे

हैं। उन्होंने चुपके से तेल का दाम स्वयं चुका दिया और पेट्रोमैक्स फिर जलने लगे। इन्दिरा से उन्होंने बहाना किया कि तेल की दूकान पर कुछ गड़बड़ हो जाने से ही तेल नहीं आ सकता था। उसने इसे सुना अवश्य पर अपने कमरे में फिर पेट्रोमैक्स नहीं ही जलाया—बराबर मोमबत्ती ही जलती रही!

दो एक दिन बाद एक और घटना घटी, रामकुमार की दाई ने जवाब दे दिया। यह चीज़ ऐसी थी जिसमें दीनदयाल से पूछना ज़रूरी था। घर की रसोईदारिन ने जो बताया वह एक अंश तक दीनदयाल को ठीक ही लगा। उसने कहा कि दाई का प्रेमी (रसोईदारिन ने 'यार' शब्द का प्रयोग किया था) लौट आया है तभी उसने नौकरी छोड़ दी है ताकि उसके साथ ब्याह कर सके। उसने यह भी कहा—देखिए, मेरा ख्याल है कि दाई के जाने के बाद हम दूसरी कोई न रक्खे।

'क्यों?'—दीनदयाल ने पूछा।

रसोईदारिन—उसका काम मैं स्वयं ही करूँगी, पर किसी अपरिचित को न रखिए।

दीनदयाल को यह जानकर सन्तोष हुआ कि कम से कम उन्हें इस घर का इतना अन्तरंग तो समझा गया कि उनसे इस तरह घरेलू बातें की गईं। वे चुप रहे। उन्हें तेल की बात याद आई, उन्होंने सोचा, आर्थिक दृष्टि से तो रसोईदारिन का यह प्रस्ताव बुरा है। उन्होंने कहा—देखो, मैं साहब को लिखकर उनसे पूछता हूँ। उनसे तुम्हारे प्रस्ताव के बारे में भी पूछ लूँगा। यह भी लिख दूँगा कि कल से मैं ही रामकुमार के कमरे के बग़ल में सोऊँगा। ठीक है न!

'यही हो सकता है। यही ठीक है। उसका जाना ही ठीक है, और देखिए, उसकी जगह कोई दूसरा न आवे।

दीनदयाल ने सर साहब को लिखा। रसोईदारिन को यह जानकर सुख हुआ कि जिस परिवार की सेवा उसने लगातार बीस-पचीस वर्ष की है, उसके लिए कुछ और करने का उसे असवर मिला।

दो दिन बाद दीनदयाल को अपने उस पत्र का जवाब मिला। लिखा था—

१० फ़रवरी

प्रिय दीनदयाल जी,

दाई ने जवाब दे दिया है, इससे मुझे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। तुम्हारा और रसोईदारिन का मैं कृतज्ञ हूँ। इस कृपा के लिए धन्यवाद मैं कैसे दूँ, यह नहीं जानता। रसोईदारिन कुछ भी हो, वह वेतनभोगी दासी है, उसके कामों के लिए मैं केवल इसलिए प्रसन्न हूँ कि वह स्नेह के कारण भी ऐसा करने को प्रस्तुत हो सकती है। पर आपको क्या कहूँ; मेरे पास शब्द नहीं हैं। दाई के विषय में जो चाहो, करो। चाहे दूसरी रखो, या नहीं, मैं तुम पर ही छोड़ देता हूँ।

तुम्हें आश्चर्य होगा कि मैं न तो गाँव ही आया और न कुछ लिखा। कारण सुनो। मैं चाहता हूँ कि व्यापार में लगकर रुपये इधर काफ़ी बना लूँ नहीं तो अच्छा न होगा। इसी लिए मेरा यहाँ रहना जरूरी है।

मैं समझता हूँ, दुनिया के लिए या तो मैं मूर्ख हूँ या पागल हूँ। उसकी रीति-नीतियों को मैं नहीं मान सका। दुर्भाग्य से, प्रचलित रीति-नीतियाँ, बहुत दिन हुए, मेरे लिए व्यर्थ प्रमाणित हो चुकी हैं। ढोंग-और पाखण्ड से मुझे दुश्मनी है, यह मुझमें बहुत बड़ी कमी कही जा सकती है, और यही कमी मुझे व्यर्थ 'बनने' नहीं देती। मैं तुमसे साफ़ कह दूँ, दुनिया में अभी कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो मुझे प्रसन्नता प्रदान करती हैं। एक सुन्दरी स्त्री उन वस्तुओं में से एक है। पर एक बात है। यह आकर्षण केवल 'होकर' रह जाता है—कुछ आगे नहीं बढ़ पाता। कोई विशेष तत्त्व नहीं होता।

मैं यह सब तुम्हें क्यों लिख रहा हूँ ? तीन कारणों से—(१) क्योंकि तुम रामकुमार को प्यार करते हो। (२) जिसके लिए इतना त्याग कर रहे हो, उसकी व्यर्थता एक न एक दिन जान ही लोगे और (३) मैं जानता हूँ कि तुम यह पत्र पढ़कर फाड़ डालोगे जिसे लिखने में मुझे काफ़ी कष्ट हो रहा है।

अनीता का ब्याह जल्दी ही होगा। मीना को उसकी एक चाची थोड़ी-सी सम्पत्ति दे गई है, लगभग ४-५ सौ रुपये महीने की आमदनी है, उसका काम भी मज़े से चल जायगा। मैं स्वयं आर्थिक दृष्टि से एक भारी परिवर्तन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। और शायद यह मेरा भ्रम ही हो, पर मैं समझता हूँ, ऐसा होगा ज़रूर।

अन्त में एक बहुत ज़रूरी बात कहनी है। मैं जानता हूँ, कनककुमार मुझे बहुत बुरा समझता है। मैं उस विषय में कुछ नहीं कहना चाहता। उसका ख्याल है, मैं ज्योति नाम की स्त्री पर बहुत व्यय करता हूँ। यह बात ग़लत है। मैं उसके लिए कुछ व्यय नहीं करता, न कभी किया है। वह करने ही नहीं देती।

मैं तुमसे इसी कारण यह कह रहा हूँ कि तुम यह न समझो, मैं अपने आनन्दों के लिए बेकार रुपये उड़ाता हूँ और तुम्हें महीनों से वेतन नहीं दिया। मेरे पास धन है ही नहीं, मैं उधार लेकर ही व्यय करता रहा हूँ और अब भी कर रहा हूँ।

कृपया मेरी कृतज्ञता पर विश्वास रक्खो और हो सके तो इन्दिरा का ख्याल रखना।

तुम्हारा,
कृष्णकुमार।

सत्रह

यह पत्र दीनदयाल को यदि इन्दिरा से बातें करने के पहले मिलता तो जरूर आश्चर्य होता, पर इन्दिरा की बातों ने आश्चर्य की तीव्रता कम कर दी थी। पत्र ने उन्हें चौंकाया अवश्य पर आश्चर्य नहीं हुआ। उन्होंने पत्र को कई बार पढ़ा, यहाँ तक कि वह याद-सा हो गया। यद्यपि इसे लिखने का कारण सर कृष्णकुमार ने बता दिया था, पर दीनदयाल को ऐसा लगा जैसे प्रधान कारण या तो छिपाया गया है या छूट गया है। यह तय था कि कृष्णकुमार चाहते थे, कोई उनकी बातें जान ले, अपना दिल किसी के सामने खोलकर वह हलके हो लें। इसी लिए उन्होंने दीनदयाल को लिखा। यद्यपि वे इस परिवार के व्यक्ति नहीं थे, फिर भी बहुत घनिष्ठ-से हो गये थे।

पत्र में केवल आर्थिक संकट की ही बात नहीं थी। उनके जीवन में कुछ वर्षों पहले जो आकस्मिक परिवर्तन हो गया था, उसकी ओर भी पत्र संकेत करता था। दीनदयाल ने समूचे उस पत्र को एक रहस्य ही समझा और उसे जला दिया। केवल इस बात की प्रतीक्षा करने लगे कि सर कृष्णकुमार से पुनः भेंट होने पर, देखें, इस पत्र का कोई जिक्र आता है या नहीं। दीनदयाल अकसर अकेले बैठकर विचार करते रहते, बहुत-सी बातें ऐसी थीं जिन पर ग़ौर करना ज़रूरी था। साथ ही, सर्वप्रधान विचार का विषय थी—अनीता। अकसर उसकी स्मृति उनके मन में उभर आती और तब वे देखते, अनीता का अस्तित्व उनके जीवन का कठोर सत्य है और उनके जीवन की गति-विधि को उसने एक विचित्र सौन्दर्य प्रदान कर दिया है। उसके पत्र ऐसे ही कभी-कभी आते थे और उनसे भी वह कुछ अधिक उसके बारे में नहीं जान पाते थे, फिर भी इस बात का उन्हें विशेष दुःख नहीं था। वियोग का उन्हें भान न होता, उसके

अस्तित्व के चिह्नों का भी उन्हें कोई लोभ नहीं था। उसके प्रति उनका प्रेम एक आन्तरिक वास्तविकता थी, उसके लिए वाहरी उपकरणों की आवश्यकता नहीं थी।

दाई के चले जाने से दीनदयाल का अधिक समय रामकुमार के साथ बीतने लगा, साथ ही इन्दिरा के पास भी अब वे अकसर आते-जाते थे। अब वे रामकुमार के साथ ही सोते। जिस कमरे में पहले रहते थे, उसे बैठने-उठने के लिए इस्तेमाल करने लगे। रामकुमार भी इस परिवर्तन से प्रसन्न ही हुआ, नींद खुलने पर और मौक़े-बे-मौक़े अब उसे बातें करने की सुविधा हो गई।

पत्र पाने के लगभग दस दिन बाद की बात है। एक दिन रात को दस बजे दीनदयाल यह सोचकर ऊपर गये कि चुपचाप जाकर कमरे में सो जायँगे। इस वक्त सर्वत्र शान्ति होगी! इन्दिरा के कमरे मे शान्ति थी। वे अपने कमरे में घुसे। थोड़ी देर सोचते रहे कि क्या करना चाहिए, फिर एकाएक ही उन्हें उस रात की बात याद आई जब अनीता ने उनसे अपने परिवार के बारे में पहले-पहल बातें की थीं। वे अनीता को स्पष्ट सामने देख रहे थे, उसकी शक्ल-सूरत तक साफ़ दीख रही थी, उसकी हरी साड़ी, उसका स्वरविन्यास, बातें करने की कुशलता और सब कुछ उन्हें याद आ रहा था। और किस तरह उसने इन्हें ऐसी जगह लाकर छोड़ दिया था, जहाँ वे यह भी निश्चय नहीं कर पाते थे कि यह नाटक सुखान्त है या दुःखान्त!

नौ महीने पहले—लगभग नौ महीने पहले—सुखान्त या दुःखान्त!

दीनदयाल अपनी स्मृतियों को बटोरकर व्याख्या करना ही चाहते थे कि धीरे से द्वार खुल गया और इन्दिरा का मुख दिखलाई पड़ा। वह द्वार के हैन्डल पर झुकी हुई थी, एक हाथ कमर पर था और मुख पर दर्द और कष्ट का चिह्न था। दीनदयाल लगभग दौड़कर ही द्वार तक पहुँचे, कहा—क्या हुआ? तबीअत क्या कुछ खराब है!

उसने कुछ उत्तर नहीं दिया, लगा, जैसे गिर पड़ेगी। दीनदयाल थोड़ी देर तक तो विमूढ़-से खड़े रह गये, उसे सहारा दें या

न दें। वह स्त्री है, उसका स्पर्श करना चाहिए या नहीं। पर यह विचार क्षण भर ही रहा, दूसरे ही क्षण उन्होंने हाथ से उसे सहारा देते हुए कहा—आप अपने कमरे में चलें, मैं लिवा चलता हूँ।

उसने सहमति-सूचक सिर हिलाया। दीनदयाल धीरे-धीरे उसे सहारा देकर कमरे तक ले गये और बिछावन पर लिटा दिया।

पूछा—रसोईदारिन को वुला दूँ ?

इन्दिरा—नहीं, अब मैं ठीक हूँ। आप कृपया कुछ देर ठहरें।

वह आँख मूँदकर पड़ रही और दीनदयाल खड़े देखते रहे। कई मिनट वीत गये। सहसा ही उसने आँखें खोलीं, कहा—अब ठीक है। आपको व्यर्थ ही कष्ट दिया।

यह कहकर उसने मुसकराकर एक लम्बी साँस ली। फिर कहा—वह मेरी ही गलती है। मैंने साधारणरूप से आज रात खाना खाया। और, साधारणरूप से कोई काम करना मेरे लिए हमेशा खतरनाक होता है।

दीनदयाल एक कुर्सी खींचकर बिछावन के पास बैठ गये और कहा—सुनिए, आपसे मुझे कुछ बातें करनी हैं और आपको सब सच सच ही बतलाना होगा।

इन्दिरा—आप ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनसे मैंने हमेशा सब कुछ सच-सच बतलाया है।

दीनदयाल जल्दी से बोले—पर मैं आपकी बीमारी की बात कह रहा हूँ। लगता है कि कुछ दिनों से आपकी तबीअत ठीक नहीं है। मेरा मतलब यह है कि ऐसे दर्द आपको अकसर होते रहते हैं। ठीक है न ?

वह करवट बदलकर, कुहनी पर उठँगते हुए बोली—आप मुझ पर इतनी कृपा क्यों रखते हैं ? मुझे क्या होता है, क्या नहीं, इसके लिए आप क्यों इतनी चिन्ता करते हैं। आप यहाँ आये ही क्यों ? क्यो यहाँ रह रहे हैं ?

दीनदयाल क्या उत्तर देते, चुप रह गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने फिर कहा—देखिए, कृपया इन दर्दों के बारे में मुझे विस्तृत बतलाइए। क्या ऐसा अकसर होता है ?

इन्दिरा—कभी कभी हफ़्तों नहीं होता, कभी हफ़्ते में तीनबार होता है।

दीनदयाल—और आपने किसी से कहा नहीं ?

उसने हाथ से एक संकेत किया, फिर कहा—जीवन जितना निरानन्द हो चुका है वही बहुत है, अधिक भयंकर उसे नहीं बनाना चाहिए। लोगों के बीच में रहने के लिए व्यक्ति को सदैव प्रसन्न ही रहना चाहिए। समाज एक पाखंड है जिसमें हर व्यक्ति को यह ढोंग रचना पड़ता है कि वह सुखी है, अमर है और चिन्ता-मुक्त है। जीवन की भयंकरतायें और दुःख-दर्द मनुष्य को अकेले ही भुगतनी चाहिए। आज रात, पीड़ा से बेचैन होकर आपके पास गई, इसे मैं कभी नहीं भूलूंगी।

दीनदयाल—लेकिन—लेकिन आप बहुत कष्ट में थीं !

इन्दिरा—हाँ, बहुत कष्ट था !

दीनदयाल—और ऐसा अकसर होता है ?

इन्दिरा—हाँ।

दीनदयाल—इससे आपको भय नहीं लगता ?

इन्दिरा ने आँख उठाकर उनकी ओर देखा, फिर कहा—मुझे केवल 'भय' से भय लगता है। मुझे मृत्यु से नहीं भय लगता, मैं जानती हूं कि मुझे ज़्यादा दिन ज़िन्दा नहीं रहना है।

दीनदयाल ने उसकी इस बात पर सहमते हुए कहा—आप... आप यह नहीं कह सकतीं !

इन्दिरा—नहीं, नहीं ! यह सच है कि मैं ज़्यादा दिन नहीं जीवित रहूँगी। इस दुनिया को छोड़ने में किसी को अधिक दुःख नहीं होना चाहिए। पर हम हमेशा धोखे में रहते हैं। जब हमें जान पड़ता है कि मृत्यु सिर पर है उस समय इस संसार का समस्त मिथ्या सौंदर्य हमारे सामने आ खड़ा होता है, हमें अभिभूत कर लेता है, हम पर विजय

पाने लगता है। उस समय हमें आत्मिक शुद्धि और प्रायश्चित्त सूझता है और हम समझने लगते हैं कि हम स्वर्ग ही जायँगे।

दीनदयाल थोड़ी देर चुप रहे, फिर कहा—मैं डाक्टर ले आऊँगा।

इन्दिरा—क्यों? आपकी तबीअत खराब है क्या?

दीनदयाल—नहीं, आपके लिए ले आना है।

इन्दिरा जैसे घबराकर बोली—नहीं, नहीं, कृपया ऐसा न कीजिएगा। मैं उसके सामने नहीं जाऊँगी। ये डाक्टर कुछ नहीं कर सकते, करेंगे भी तो ज़रा-ज़रा-सी बात पर आपरेशन की बात उठायेंगे। कृपा करके मेरा एक दिन, जो सुख से बीत सकता है, नष्ट न कीजिए। उसका आना व्यर्थ भी होगा। चाहे वह कुछ भी कहे, मैं अपने ही रास्ते जाऊँगी। जो जीवन मैं व्यतीत कर रही हूँ, उसके सिवाय और किसी तरह का जीवन मेरे लिए व्यर्थ होगा।

यह कहकर वह इस तरह मुसकराई कि दीनदयाल के लिए यह समझना ही कठिन हो गया कि अभी दस मिनट पहले वह कष्ट में थी। अन्त में उसने कहा—आप इस बात का वचन दीजिए कि फिर कभी इस तरह का दर्द उठने पर आप मुझे सूचित करेंगी।

इन्दिरा ने बच्चे की तरह आज्ञाकारिता के स्वर में कहा—करूँगी, पर आप कृपया यह बात 'उन्हें' न सूचित कीजिएगा। मैं नहीं चाहती कि वे मुझे कभी बीमार देखें, बीमारी की बात भी जानें। इसके पहले मैं मर जाना स्वीकार करूँगी।

दीनदयाल—जैसा आप कहें। उन्हें नहीं बतलाऊँगा।

शान्त इन्दिरा की बातों से दीनदयाल यह समझ गये कि उसकी बीमारी गम्भीर है। क्यों, वह भविष्य की उपेक्षा करती है, किन्तु आज के दर्द की गुरुता ने उसे भी भीतर ही भीतर विचलित कर दिया है। नहीं तो, वह इतनी तीव्रता से सर कृष्णकुमार को उसकी जानकारी से अनभिज्ञ रखने की चेष्टा न करती। वह नहीं चाहती कि वे—पति—उसकी बीमारी की बात जानें! तभी, उसने कहा कि मैं इसके पहले मर जाना पसन्द करूँगी। दीनदयाल ने कहा—आपको कभी कभी इधर-उधर घूमने-फिरने जाना चाहिए। शहर ...

इन्दिरा ने बात काटकर कहा--आप नहीं जानते कि आजकल के लोगों को देखकर मुझे कितनी घृणा होती है! वे भयंकर होते हैं। यही नहीं समझ में आता कि वे बन रहे हैं या साधारण अवस्था में हैं। शहर में कई बरस से नहीं गई हूं और जब-जब गई हूँ तब-तब रास्ते में आँखें बन्द कर ली हैं। अपनी समझ से दुनिया के लोग सभ्य और प्रगतिशील हो रहे हैं, पर वास्तव में वे ढोंगी हैं, पाखंडी! ओह, मुझे इन सबसे घृणा है!

दीनदयाल ने उठते हुए कहा--आपको छोड़कर जाने को जी तो नहीं चाहता, पर यदि दर्द बन्द हो गया हो तो अब आप सोयें।

'दर्द?' ओह, वह तो कभी का खत्म हो गया। मैं तो उसे भूल ही गई थी!'—इन्दिरा ने आश्चर्य से कहा।

अठारह

दस अप्रैल की रात . . . . .

अपने शहर के मकान के एक कमरे में सर कृष्णकुमार धीरे-धीरे टहल रहे हैं। रात के साढ़े नौ बजे हैं। पास ही पलँग पर ज्योति लेटी हुई है और उसे ही वे रह-रहकर देख लेते हैं। थोड़ी देर से दो के दोनों चुप हैं। अभी-अभी ही साथ ही खाना खाकर होटल से दोनों लौटे हैं।

ज्योति की आयु लगभग तीस वरस की है। वह एक नर्तकी है। एकहरा गोरा बदन, घुँघराले बाल हैं। उसकी प्रतिज्ञा है कि पहले तो वह व्याह ही नहीं करेगी और करेगी भी तो किसी धनी व्यक्ति से नहीं, बल्कि किसी ग़रीब से। एक नर्तकी के लिए ऐसी इच्छा का होना अस्वाभाविक और असाधारण ज़रूर है, पर उसकी ज़िद यही है। एक से एक धनी-मानी व्यक्ति उस पर प्राण देते हैं पर उसकी उदासीनता देखकर चुप रह जाते हैं।

वह सर साहब की ओर नहीं देख रही थी बल्कि उसकी आँखें कहीं और जमी हुई थीं। इस कमरे में यों एकान्त में कृष्णकुमार के साथ रहने का आज उसका शायद अन्तिम दिन था, तभी वह यों अनमनी-सी हो रही थी। जब कोई किसी वस्तु को त्यागने लगता है तो उस वस्तु का समस्त सौंदर्य उसके लिए व्यर्थ हो जाता है। उसके मुख पर एक प्रकार की मुसकराहट भी थी, और वह मुसकराहट कमरे को देखकर उसके मुँह पर व्याप्त हो गई थी। कमरा सर कृष्णकुमार के ही अनुरूप था, वैसा ही शृंखलित, पुरुषोचित्त और मर्यादित! वह हँसी और उनकी ओर देखकर कहा—तुम्हारी गम्भीर शान्ति देखकर यह तो नहीं मालूम पड़ता कि स्थिति इतनी खराब है!

इस बीच सर साहब एक कुर्सी पर बैठ गये थे। ज्योति अधमुंदी आँखों से उन्हें देखने लगी। उनका गर्वीला मस्तक, माथे पर के केश,

अन्तर्भेदिनी दृष्टि, सब इस बात के साक्षी थे कि मानसिक और शारीरिक, दोनों दृष्टियों से वे असाधारण हैं। साधारण कोटि के लोगों में उनकी गणना नहीं की जा सकती। उनका व्यवहार भी अन्य लोगों से भिन्न था। ज्योति की बात सुनकर उन्होंने कहा—जितना समझ रही हो, उससे भी बुरी दशा है। वास्तविकता यह है कि अब सब समाप्त होना चाहता है, और मैं उस स्थिति में पहुँच गया हूँ जहाँ से मनुष्य केवल अपना ही निरीक्षण भर करता रहता है, कुछ ठोस काम कर नहीं सकता। अब मेरा कोई कार्यक्रम भी नहीं रह गया है, कोई आशा भी नहीं रह गई है।

'कोई चिन्ता ?'—ज्योति ने पूछा।

कृष्णकुमार—नहीं। वह भी नहीं है। काश, मुझे भी किसी बात की चिन्ता होती ? कुछ दुःख होता ! एक परीक्षण जो मैं कर रहा था, वह समाप्त हो गया। बस ! इसमें दुःख काहे का ? यह परीक्षण तो मुझे करना ही था, यद्यपि अन्दर ही अन्दर मैं यह समझता था कि यह असफल होगा।

ज्योति ने कुछ नहीं कहा। क्या कहे, वह भी तो परीक्षण ही करती रहती थी ! जीवन से वह संतोष लाभ करने की चेष्टा करती थी, यह सोचकर कि एक न एक दिन वह अवश्य मिलेगा। यह तो अब वह समझने लगी थी कि यह भ्रान्ति है, भूल है ! क्या उसे भी जीवन में सर साहब की ही तरह असफलता मिलेगी ? यदि हाँ, तो क्या वह भी उस असफलता को एक दर्शक की भाँति देखती रह जायगी ?

इन प्रश्नों ने उसके हृदय को मथ डाला और तभी वह ज़ोर ज़ोर से बोलने लगी। पूछा—एक बात मेरी समझ में नहीं आती। तुम्हारे जैसे व्यक्ति ने हरेकृष्ण जैसे नीच पर क्यों विश्वास किया ?

कृष्णकुमार—विश्वास मैंने कहाँ किया ? मैंने सोचा, मेरे कारण उसे थोड़ा लाभ हो जायगा। उसने मेरे नाम का उपयोग कर कई कार्य किये, उनकी सफलता में भी मुझे संशय था, फिर भी सोचता था, शायद वह कभी कोई अच्छा काम कर पाये। तब वह मेरा भी ख़याल रक्खेगा। यह भी मेरे लिए नहीं, बल्कि अपने ही लिए। मैं सोचता

था, वह इस बात को समझ लेगा कि अतीत की तरह भविष्य में भी उसे मेरी आवश्यकता पड़ सकती है। अब वह जाने और उसका काम!

ज्योति—इस अन्तिम कार्य से उसने काफ़ी धन पैदा किया है। जो लोग उससे कभी बात भी न करना चाहते, वे भी अब उससे मिल पाने को लालायित रहेंगे। उसने तुम्हारा पूरा-पूरा उपयोग कर लिया और अब तुम्हें दूध की मक्खी की तरह निकालकर अलग फेंक दिया है। यही उसका स्वभाव है और इसी स्वभाव से आजकल धन मिलता भी है। अच्छा, क्या उससे तुम मिलोगे ?

कृष्णकुमार—इससे लाभ क्या है ज्योति! उसे मैं हमेशा से पहचानता हूँ। इतना कह सकता हूँ कि मुझे यों अलग कर उसने भूल ही की है। उसे यह मालूम था कि मुझे रुपयों की अत्यन्त आवश्यकता है, फिर भी उसने मुझे इस कार्य से अलग रक्खा। उसने मुझे धोखा दिया है, यह मानता हूँ, पर हम अब उसकी बात छोड़ें! वह अपनी राह जाय, मैं अपनी राह जाऊँगा।

कृष्णकुमार के इन उदासी-भरे शब्दों के बाद ज्योति ने थोड़ी देर तक कुछ कहना उचित नहीं समझा। चुपचाप खिड़की के पास जाकर खड़ी हो गई। कृष्णकुमार कृतज्ञ दृष्टि से उसकी ओर देखते रहे। उसके वस्त्रों से ही नर्तकी-जनोचित सुरुचि टपकती थी, कृष्णकुमार उसके चुस्त, दुरुस्त वस्त्र और आकृति की सुघराई पर मुग्ध थे, किन्तु आश्चर्य था, यह रूप देखकर उन्हें मन में उसे सम्पूर्ण रूप से पा लेने की भावना नहीं होती थी। उनके लिए सौंदर्य एक रहस्य था, मरुभूमि में एकाकी लगे गुलाब-सा आश्चर्यमय, मृगमरीचिका-सी पहेली, और ये सब बातें उन्हें सौंदर्य के सामने हमेशा विनम्र बना देतीं, अधिकार की भावना ही उनमें न आती। इधर, ज्योति कृष्णकुमार के लिए अपनी भावनाओं की उचित व्याख्या नहीं कर पाती थी। पहली बात तो यह थी कि वे उसके व्यावसायिक कोलाहलमय वातावरण से बाहर के व्यक्ति थे, इसलिए उनके साथ छल-कपट, धोखाधड़ी

और मिथ्या अभिनय करने की उसकी प्रवृत्ति न होती। उनके साथ रहने पर वह यह भूल जाती कि वह एक नर्तकी है और समाज में पतिता समझी जाती है। लोग उसे नर्तकी कहकर जानते थे, ज्योति नाम की एक वेश्या को जानते थे जो इसी नाम के एक स्त्री की प्रतिच्छाया थी, किन्तु यह प्रतिच्छाया भी लोगों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती थी, लोग धन लेकर उसकी ओर दौड़ते थे। कृष्णकुमार ने पहली ही भेंट में यह सोच लिया था कि वे उसे नर्तकी समझकर घृणा न करेंगे। उन्होंने उसके सामने 'बनने' की भी चेष्टा न की, और तभी ज्योति, जो नर्तकी होने के कारण और नित्य ही पुरुषों से साबक़ा पड़ने के कारण लोगों को समझने म चतुर हो गई थी, उनके इस स्पष्ट आचरण पर मुग्ध हो गई थी। अपने प्रशंसकों की प्रशंसा की तह में दबी धृष्टता को वह अच्छी तरह जानती थी, वह अनुभव करती थी कि अपनी अकृत्रिमता के कारण ही वे उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। उनका खयाल था कि उस जैसी स्त्री, जो नर्तकी का व्यवसाय करती है, साधारण नर्तकियों जैसी ही होगी, पर उसके पास जाकर अपनी आशाओं के विपरीत उसे पाकर वे निराश हो जाते। तब उन्हें लगता कि वे छले गये हैं, उन्हें धोखा हुआ है। वे समर्पण की आशा लेकर जाते थे पर ज्योति की उदासीनता से उनके हौसले परास्त हो जाते। ज्योति यह समझ गई थी कि उसका व्यवसाय ऐसा नहीं जिसमें वह व्यर्थ लोगों से बहस करती फिरे। धन ही उसके व्यवसाय में ईश्वर है। एक धनी मूर्ख का वृथा अहंकार स्नेहपूर्ण व्यवहार से ही दूर किया जा सकता है। परिणाम-स्वरूप ज्योति—जो नर्तकी के कार्य को प्रभावजनक समझती थी और सामाजिक जड़ता से बचने का साधन समझती थी—वह समझने लगी थी कि यह व्यवसाय न केवल एक मशीन-सा हो गया है, बल्कि यह भी जरूरी है कि वह उन्हीं लोगों से मिले और उन्हें प्यार करे, जिन्हें वह घृणा करती है, जिनसे वह बचना चाहती है।

ज्योति के मन मे इस समय यही सब बातें घूम रही थीं। सहसा उसके विचार कृष्णकुमार पर केन्द्रीभूत हो गये, उसे लगा कि वह

आज तक इस व्यक्ति को पहचान नहीं सकी। उसने कहा—देखो, मुझे लगता है कि मैं आज तक तुम्हें पहचान नहीं सकी।

कृष्णकुमार—दो व्यक्तियों का एक दूसरे को पहचान पाना असम्भव ही है। हमें केवल एक दूसरे को पसन्द भर करके संतुष्ट हो जाना चाहिए।

ज्योति—यह तो ठीक है, पर मुझे लगता है कि सब कुछ समाप्त हो रहा है। और तभी मैं तुम्हारे लिए इतनी चिन्तित हो उठी हूँ। तुमने यह मकान क्यों लिया, क्यों हरेकृष्ण के साथ मिले, क्यों अपने को नष्ट कर रहे हो? इन सबकी क्या ज़रूरत थी? मुझे बड़ी परेशानी हो रही है।

कृष्णकुमार—अब तो बहुत देर हो गई, ज्योति! और मैंने कुछ नया नहीं किया है। तुम ऐसे बहुत-से लोगों को जानती होगी जो ऐसा ही करते हैं।

ज्योति—हाँ, कुछ को जानती हूँ। मेरा खयाल है, आदर्शवादियों का सारा आदर्श पचास की आयु तक पहुँचते-पहुँचते समाप्त हो जाता है। वे अपने चारों ओर देखते हैं कि लोग उनकी उपेक्षा करते हैं, जानते हैं कि उन्हें अब ज़्यादा नहीं रहना है और दुनिया से भागने लगते हैं। इन सब बातों से मैं आजिज़ आ गई हूँ। मुझे डर भी लगता है।

'क्यों, क्यों?'

ज्योति—अभी तक मैं यह समझती थी कि मैं जो कुछ चाहती हूँ, वह मिल रहा है, पर अब मुझे इस पर संदेह होने लगा है। आदमी उसी समय समाप्त हो जाता है जब 'कल' का आकर्षण उसे नहीं रह जाता। फिर, अब तक सब विषयों में मैंने तुम्हारे ऊपर भरोसा किया है। क्या सब कुछ छोड़कर, साथ-साथ हम कहीं पड़े-पड़े किसी आकस्मिक प्रवाह की प्रतीक्षा करते रहेंगे?

कृष्णकुमार—विश्राम केवल सन्त साधुओं को मिलता है, ज्योति! खैर, कल मैं गाँव जा रहा हूँ। आगे क्या करूँगा, नहीं जानता। शायद कहीं एक कुटिया बनाकर रहूँगा।

ज्योति—इन्दिरा के साथ?

कृष्णकुमार—ज्योति, मैं सच कहता हूँ, मैं कुछ नहीं जानता। बीते हुए दिनों की और आगे आनेवाली ज़माने की बात न करो। तुम हमेशा मेरे लिए असाधारण रही हो, वैसी ही बनी रहो। आओ, मनाये कि आज की रात कभी समाप्त न हो।

ज्योति ने थोड़ा रुककर किंचित् मुसकराहट के साथ कहा—पर यह तो स्वप्न-सदृश है!

कृष्णकुमार—हाँ, सपना ही है।

ज्योति—मैं नहीं चाहती कि यह कभी खत्म हो! तुम्हें फिर न देख पाना मुझसे सहन नहीं होगा।

कृष्णकुमार—मैं भी नहीं चाहता . . . पर . . . पर !

ज्योति—यह तो मृत्यु-जैसा लगता है!

कृष्णकुमार—वियोग मृत्यु का ही संक्षिप्त रूप है, ज्योति!

ज्योति—अच्छा, मुझे पत्र तो लिखते रहोगे?

कृष्णकुमार—हाँ। अवश्य!

उसी दिन रात को—

सहसा विख्यात और धनी हो जाने पर भी हरेकृष्ण ने अपना पहलेवाला किराये का मकान बनाये रक्खा। इस समय वह एक छोटे टेबुल के सामने बैठा पत्र लिख रहा था। अभी नौ ही बजे थे। कमरे में वह अकेला ही था। सामने लगे हुए पत्रों के ढेर से मालूम होता था, उसका आज का काम अभी देर में समाप्त होगा। इसी समय द्वार पर खटखटाहट हुई। वह सोचने लगा, आखिर यह कौन हो सकता है, जो इतनी रात को आया है! उठकर द्वार खोलने पर उसने देखा—सामने अनीता खड़ी है!

कुछ सेकेंडों तक वे एक दूसरे की ओर चुपचाप देखते रहे, तब अनीता चुपचाप जाकर एक कुर्सी पर बैठ गई। जब से हरेकृष्ण गाँव से लौटकर आया था तब से न तो उसने कभी अनीता को कुछ लिखा था और न अनीता ने ही कभी उसकी कोई खबर ली थी। वह सोचने लगा, यह क्यों आई है? वह इसकी ओर देख नहीं रही थी। हरेकृष्ण को यह न जान पड़ा कि वह मेरे सहसा धनी जाने

और कृष्णकुमार के प्रति मेरे व्यवहार की बात जानती है या नहीं! उसने पूछा—तुम्हें मेरे बारे में कोई नई बात मालूम हुई या नहीं?

अनीता ने वैसे ही रहकर कहा—तुम्हारे बारे में? तुम्हारे बारे में कुछ जानने का मुझे अवकाश नहीं है।

हरेकृष्ण हँसने लगा। कहा—जब तुम्हारे घर पर तुम्हारे कमरे में मैंने तुमसे बातें की थीं, तब मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे तुम मेरी बातों में रस ले रही हो। ख़ैर, तुम्हें इस बात से तो ज़रूर परेशानी हुई थी कि तुम्हारे पिता जी को मेरे कारण थोड़े रुपये मिल गये।

अनीता—हाँ, तब मुझे यह बुरा लगा था, पर मुझे अब इसकी चिन्ता नहीं है।

हरेकृष्ण—क्यों ?

अनीता—तुम सब जानते हो। बेकार के सवाल क्यों करते हो?

हरेकृष्ण की समझ में कुछ नहीं आया। उसने कहा—बेकार के सवाल इसी लिए कर रहा हूँ कि तुम ठीक-ठीक न बतलाने पर तुली हुई हो। तुम्हें हुआ क्या है? तुम पीली-पीली-सी और उदास क्यों लगती हो?

अनीता—तुम्हें इससे विशेष दुःख न होना चाहिए।

हरेकृष्ण—पर तुम यहाँ आईं कैसे?

अनीता—मैं बाहर गई थी। आज ही लौटी हूँ। कल सुबह गाँव जाऊँगी। तब तक के लिए एक जगह ठहर गई हूँ। कल मुझे पिता जी से मिलना ज़रूरी है, चाहे यहाँ हों, चाहे गाँव पर। कल सुबह उनके यहाँ के मकान पर पता लगाऊँगी, हैं या नहीं।

हरेकृष्ण ने सहसा अनीता की कलाइयाँ पकड़कर उसे उठा लिया और अपने पास खींच लिया। पूछा—कल तुम सर साहब से मिलकर क्या बातें करोगी?

अनीता—तुम जानते हो।

हरेकृष्ण—मैं कुछ नहीं जानता। बतलाओ, तुम उनसे क्या कहोगी?

अनीता—यही कि मैं तुमसे ब्याह करूँगी।

एक मिनट वहाँ शान्ति रही, फिर हरेकृष्ण ने कहा—तो, आखिर तुमने आत्मसमर्पण कर ही दिया!

अनीता—यह तो मुझे देखते ही तुम समझ गये होगे!

हरेकृष्ण—हाँ, शायद समझ गया था। पर तुम्हारे मुख से सुनना चाहता था। तुमने अभी तक पिता जी से भेंट नहीं की, न उनका कोई समाचार ही पाया?

अनीता—मैं नहीं समझती, तुम क्यों उनके विषय में इतना परेशान रहते हो?

हरेकृष्ण ने उसे छोड़ दिया और वह पुनः ज्यों की त्यों कुर्सी पर बैठ गई। दोनों थोड़ी देर चुप रहे, फिर अनीता ने पूछा—बोलो, तुम क्यों उनके बारे में बार-बार पूछते हो?

हरेकृष्ण—इसलिए कि शायद कल वे तुम्हें कुछ ऐसी बात बतायें जिनसे तुम अपना निर्णय बदल दो।

अनीता—तर्कों मे पागलपन का इलाज नहीं होता।

हरेकृष्ण—खैर, मैं तुमसे साफ़ बतला दूँ। उनका खयाल है कि मैंने उनके साथ उचित व्यवहार नहीं किया है।

वह उठी और हरेकृष्ण के सामने तनकर खड़ी होते हुए बोली—मैं जा रही हूँ। और कुछ कहना या सुनना नहीं है। अगर एकाएक मेरी सुबुद्धि जाग जाय तो और बात है, अन्यथा मैं तुमसे ब्याह करूँगी। यह तो तुम्हें मालूम है ही कि मैं तुमसे घृणा करती हूँ।

हरेकृष्ण इस बात को टाल गया। पूछा—तो कल ही सर साहब से मिलोगी?

अनीता—हाँ।

हरेकृष्ण—मुझे कुछ लिखोगी?

अनीता—नहीं। यदि मेरा विचार बदल नहीं गया तो मैं स्वयं ही यहाँ आऊँगी और तब जो चाहे, जब चाहे करना। मैं तब कुछ नहीं चाहूँगी! यही तो तुम चाहते थे! लो, तुम्हारी इच्छा पूर्ण हुई!

उन्नीस

अप्रैल महीने के एक दिन की दुपहरी। लगभग साढ़े ग्यारह बजे हैं। पिछली रात उपेन्द्र आकर इन्दिरा को अपने साथ ले गया है। दीनदयाल इस समय एक कमरे में खड़े विमूढ़-से कुछ सोच रहे हैं। उनकी समझ में नहीं आ रहा है कि क्या करें। इसी समय सीढ़ियों पर पदध्वनि सुन पड़ी, और दूसरे ही क्षण सर कृष्णकुमार की आकृति कमरे के अन्दर दीख पड़ी। दीनदयाल को देखते ही वे बोले—ओह, आप! मैं आपको ही खोज रहा था। मैं अभी और किसी से नहीं मिलना चाहता। मुझे आपसे बहुत-सी बातें करनी हैं। जरूरी बातें हैं। आप अच्छे तो रहे हैं न!

दीनदयाल—हाँ, मैं ठीक ही रहा। पर श्रीमती इन्दिरा की तबीअत ठीक नहीं है। मैंने कल उपेन्द्र को तार देकर बुलाया था। वे...

बात काटकर कृष्णकुमार ने पूछा—क्यों, उपेन्द्र को क्यों?

दीनदयाल—वे आपको खबर नहीं देना चाहती थीं। उनका कहना था कि आपको उनकी बीमारी की खबर नहीं देनी चाहिए।

कृष्णकुमार के मुख पर अधैर्य्य का चिह्न दीखा। उन्होंने पूछा—कब से वे बीमार हैं?

दीनदयाल—लगभग महीनों से ही बीमार रहती हैं। डाक्टर को दिखाने को जब-जब कहा तब-तब उन्होंने इनकार कर दिया। अन्त में, बड़ी कठिनाई से मैं उनको इसके लिए तैयार कर पाया कि उपेन्द्र को खबर दी जाय। वे कल रात आये थे। आज प्रातःकाल उनको लेकर शहर गये हैं।

बड़ी देर तक वहाँ शान्ति रही। कृष्णकुमार खिड़की के पास जाकर, झाँककर बाग़ की ओर देखने लगे। दीनदयाल ने कहा—माफ़ करें, मुझे आपको ही खबर देनी चाहिए थी। मैंने अपनी इच्छा से

यह काम करके ठीक नहीं किया। पर मैं कुछ तय नहीं कर पाता था कि क्या करूँ!

अब कृष्णकुमार ने कहा—तुमने ठीक ही किया। क्या बीमारी गम्भीर है?

दीनदयाल—मैं कुछ विशेष नहीं कह सकता। अकसर उन्हें शरीर में ऐंठन होने लगती थी और बड़ा कष्ट होता था।

कृष्णकुमार—उपेन्द्र कब तक आयेगा?

दीनदयाल—वे या तो आज शाम को खुद ही आयँगे या किसी से खबर दिलवायेंगे। ऐसा ही कह गये हैं।

कृष्णकुमार ने एक सिगरेट सुलगाई। इन्दिरा की बीमारी की बात सुनकर उनमें कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। वे उस व्यक्ति-जैसे लग रहे थे जिसकी सारी भावनायें मर गई हों। उन्होंने कहा—तो, जब तक उपेन्द्र-द्वारा हमें कुछ समाचार न मिले तब तक कुछ किया नहीं जा सकेगा। तब तक हम बातें ही करें। तुम्हें फ़ुरसत तो है न?

दीनदयाल—हाँ, हाँ। मुझे फ़ुरसत है।

कृष्णकुमार—किसी न किसी से मुझे सब कुछ कहना ही था। मैंने तुम्हीं को इस काम के लिए चुना है। तुम चाहो तो कभी औरों से ये बातें कह देना। उपेन्द्र से कहने की ज़रूरत नहीं है, वह सब जानता है। तो, मैं आखिर से ही शुरू करता हूँ। मैं एकदम तबाह हो गया हूँ। मेरे पास एक भी पैसा नहीं रह गया है।

दीनदयाल—तो व्यापार में कोई लाभ नहीं हुआ?

कृष्णकुमार—नहीं, कोई लाभ नहीं हुआ। परीक्षण समाप्त हो गया। जब तक यह चल रहा था तब तक मैंने इस पर किसी से कोई बात नहीं की। अब यह सब समाप्त हो गया है और मैं उस पर बात कर सकता हूँ। पर बात कैसे शुरू करूँ, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा है। मुझे यह बतलाना है कि मेरे जीवन में पाँच बरस पहले परिवर्तन क्यों हो गया।

दीनदयाल—आपका मतलब है, रामकुमारवाली दुर्घटना के बाद?

कृष्णकुमार—हाँ। लोगों का यही खयाल है कि उस दुर्घटना ने ही मुझमें यह असाधारण परिवर्तन कर दिया। पर यह बात ग़लत है, यह आप बाद में समझ जायँगे। यह तो आपको मालूम ही है कि मैंने धन को कभी खास महत्त्व नहीं दिया। कभी ज़रूरत ही नहीं पड़ी। मुझे यह भी नहीं मालूम था कि मेरा धन कैसे व्यय होता है, कहाँ-कहाँ लगा हुआ है। धीरे-धीरे सब बातें बदल गईं। टैक्स बहुत बढ़ गये, व्यापार में मंदी होने लगी। उस समय मेरी दशा ठीक वैसी ही थी जैसी किसी व्यक्ति के स्वप्न से उठने पर होती है। अब तक मैं स्वभावप्रेरित जीवन व्यतीत करता रहा। युग-युग से चले आये नियमों और विश्वासों को मानकर मैं अब तक चलता रहा। सब कुछ स्वयं प्रमाणित था, सब कुछ व्यवस्थित और स्वतःसिद्ध। मस्तिष्क से काम न लेकर मैं केवल संस्कारों के बल पर कार्य करता था। फिर एकाएक, न जाने क्यों मुझे अपने विश्वासों पर शंका होने लगी। मेरी विचारधारा के नीचे-नीचे जैसे कोई क्षति पहुँचा रहा हो। धीरे-धीरे यह गाँव, अस्पष्ट रूप से मेरे लिए व्यर्थ-सा होने लगा—केवल स्मृति-सा रोमांचक। एक नया युग जन्म ले रहा था, जो प्राचीन से सर्वथा भिन्न था।

दीनदयाल—और इस युग की विशेषता क्या थी?

कृष्णकुमार—धन, दीनदयाल, धन। रुपया ही इस युग का प्रतीक था। यह अर्थ-युग था। धन ही सर्वोपरि वस्तु थी। आजकल केवल एक ही समस्या मानी जाती है, वह है धन की समस्या! किसी दूसरी समस्या का अस्तित्व तक स्वीकार नहीं किया जाता। इसी लिए, आज जो वस्तु तर्क-द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती वह व्यर्थ कहकर त्याग दी जाती है। संसार इससे नर्क हो जायगा, क्योंकि वास्तविक सत्य तर्कों-द्वारा सिद्ध नहीं किये जा सकते। खैर, तो यह गाँव, जो अब तक सुरक्षा और सुव्यवस्था का स्थल समझा जाता था, कहीं का न रह गया। इस नये युग में इस गाँव का कोई विशेष स्थान न था। ये विचार मेरे मस्तिष्क में बराबर घूमते रहते थे। अब मैं

इन्दिरा पर आता हूँ। जब तक मेरे जीवन में रस के और भी साधन थे तब तक मुझे इस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं हुई कि पत्नी के नाम पर एक गुड़िया मुझे मिली हुई है। वह जो कुछ और जैसी भी थी, मैं उसे स्वीकार करता था, पर जब मेरे जीवन का समूचा आधार ही उखड़ जाने लगा, तब वास्तव में ही मुझे किसी एक साथी की ज़रूरत होने लगी तो मुझे लगा कि मेरा व्याह, व्याह न होकर एक नाटक हुआ है। मैं यह जानता हूँ, दीनदयाल, कि इस तरह अपनी पत्नी के बारे में बात करना रीति-नीति विरुद्ध है, पर अब मैं उस स्थान पर पहुँच गया हूँ जहाँ सत्य के अलावा और किसी चीज़ का महत्त्व नहीं होता।

दीनदयाल—आप ठीक कहते हैं। रीति-नीतियाँ तभी तक महत्त्व रखती हैं जब तक लोग ठीक ठिकाने रहते हैं।

कृष्णकुमार—तुम ठीक समझे। मेरे वर्ग के लोगों की कार्यवाहियाँ व्यर्थ-सी होने लगीं। मैं यही नहीं समझ पा रहा था कि मुझे क्या हो रहा है। सब कुछ अंधकार में निहित था। अब तो मैं समझ सकता हूँ कि उस समय मैं क्या अनुभव करता था, पर तब नहीं समझ पाता था। आज का ज़माना ऐसा है जब भविष्य को हम अलक्ष्य नहीं समझते, पर तब ऐसा नहीं था। आज सब कुछ सोच-विचार कर और संगठित रूप से किया जाता है। हम सत्यों के बल पर चलते हैं, विश्वासों के बल पर नहीं। कोई कार्य करने के पहले हम उसका तर्कसङ्गत अन्त सोच लेते हैं।

कृष्णकुमार उठकर कमरे में टहलने लगे। दीनदयाल ने कुर्सी को खिड़की के पास खींच लिया। हलकी हलकी हवा चल रही थी, नभ में उड़ते हुए बादलों की छाया बाग़ पर बिखरी पड़ी थी। बाग़ पर, साथ ही, काल, शान्ति और अवनति की भी छाप थी। कई मिनट इस दशा में बीत गये, पर दीनदयाल को पता न लगा। वे अनीता के ध्यान में इस समय मग्न थे। दीनदयाल का ध्यान तब टूटा जब कृष्णकुमार ने कहा—इस तरह धीरे धीरे समय के साथ-साथ मेरी दुनिया बदल रही थी, मैं अनजान था, उसी समय रामकुमारवाली दुर्घटना

हुई। मझे एक झटका-सा लगा। मेरी जो भावनायें मर गई थीं, वे सहसा ही जैसे फिर जाग पड़ीं। उसी समय मुझे अपने जीवन की नवीन धारा का पता लगा। इस नाटक में अधिक दिन जीवन व्यतीत करना मेरे लिए कठिन हो गया। मैं थोड़े दिनों के लिए बाहर चला गया। वहाँ मुझे अपने ऊपर सोचने का काफ़ी अवसर मिला। जब मैं लौटा तो एक नया निश्चय लेकर। मैंने अपना पिछला सारा जीवन एकदम परिवर्तित कर दिया। इसका कारण मैंने किसी को नहीं बताया। मैं अपने रास्ते चलने लगा और लोगों को उनके रास्ते जाने दिया। आज पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से भाग्य की बात पर किसी का विश्वास नहीं रह गया। प्रत्येक व्यक्ति इस चेष्टा में है कि जो कुछ वह पा सके, इस युग से पा ले। यह सत्य है कि इस मारकाट और हाहाकार के साथ-साथ विश्वबन्धुत्व और राष्ट्रों के बीच शान्ति की बात भी कर दी जाती है, किन्तु अब कोई समझदार आदमी इन धोखों में नहीं आता, इन आदर्शों के ज़बर्दस्त हिमायती भी अब इन सुनहरे जालों में नहीं फँसते। अगर आज की आर्थिक तनातनी चलती रही तो केवल एक ही फल होगा। सब उस अन्त को जानते हैं, पर भय के कारण कोई उसकी बात नहीं चलाता और वह अन्त है, विशृंखलता और हाहाकार! धन की इस भागदौड़ में मैंने भी भाग लिया। मेरे पास केवल एक नाम ही ऐसा था जिसे मैं बेच सकता था—और मैंने उसी का उपयोग किया और क्या उपाय था? मैंने एक परीक्षण किया। इस युग की सर्वप्रधान देन है, धन; और मैं उसी की खोज में निकला। मैं असफल रहा—पर खैर, वह दूसरी ही कहानी है।

दीनदयाल ने हिचकते हिचकते प्रश्न किया—इन सबका आपके परिवार पर क्या प्रभाव पड़ेगा? जब.....

कृष्णकुमार—जब मैं अपनी राह चला जाऊँगा तब क्या होगा? यही न! घर की आर्थिक दशा चौपट हो जायगी। जल्दी ही घर के लोगों को अपनी रहन-सहन का ढंग बदलना होगा। उपेन्द्र को छोड़ दो, वह हम सबसे भिन्न है। कनककुमार यूनिवर्सिटी में आगे पढ़कर क्या करता? केवल रुपये का अपव्यय करना ही सीखता न? मीना

जैसी पहले थी, वैसी ही अब भी है और आगे भी रहेगी। रह गई अनीता! उसके लिए मुझे कभी भय नहीं रहा। वह सुन्दरी है, और शारीरिक सौंदर्य का महत्त्व अभी तक है--इस अर्थयुग में भी शारीरिक सौंदर्य की शक्ति कम नहीं हुई। रामकुमार बचता है। भगवान् जानता है, मैं जो कुछ कर सकता था, उसके लिए किया। केवल उसी की मुझे चिन्ता है। इन्दिरा पर मेरे कामों का कोई असर नहीं हुआ। वह हमेशा स्वप्न में रही है और अब स्वप्न ही उसका जीवन हो गया है।

उसी समय अनीता कमरे में आई। यह स्पष्ट पता लग रहा था कि वह रात भर सोई नहीं है। उसका पीला मुख, आँखों के नीचे की कालिमा आदि इस बात के गवाह थे। कृष्णकुमार ने उसे देखते ही पूछा--यह क्या अनू? तेरी तबीअत खराब है क्या?

अनीता--नहीं, तबीअत ठीक है।

कृष्णकुमार--कब आई?

अनीता--कल।

कृष्णकुमार--आज तुम्हें हुआ क्या है, अनू! इस तरह उखड़ी-उखड़ी बातें क्यों कर रही हो। क्या हुआ है, बोलो न!

अनीता--हुआ नहीं, होनेवाला है। कोई दुःख की बात नहीं है। केवल एक पाखंड मैंने दूर कर दिया है, एक नक़ाब मुंह पर से हटा दिया है, बस। लेकिन मुझे एक संतोष है, आप मुझे जानते हैं।

कृष्णकुमार--मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि तुम क्या कहना चाहती हो!

इसके उत्तर में अनीता ने एक पुर्जा उनकी ओर बढ़ा दिया और कहा--यह आपके लिए मैं लिख लाई हूँ।

पढ़कर कृष्णकुमार एकदम उत्तेजित हो उठे। बोले--नहीं, नहीं अनू, यह नहीं होगा। मैं तुम्हें उस नीच हरेकृष्ण से ब्याह न करने दूंगा। यह कभी नहीं हो सकता।

बीस

अनीता अपने कमरे में चली गई थी। लगभग दो घंटे बाद दीनदयाल उसके पास पहुँचे। वह इस समय एक विचित्र अन्तर्द्वन्द्व में पड़ी हुई थी। हरेकृष्ण से विवाह करने का उसने वचन दिया था, पिता से यही कहा भी, पर उसका मन ही जानता था कि वह कैसी उलझन में फँस गई है! दीनदयाल की ओर बुरी तरह आकृष्ट मन को बरबस हरेकृष्ण की ओर लगाने मे उसे कैसे मानसिक उथल-पुथल का सामना करना पड़ रहा था, यह वही जानती थी। दीनदयाल की उदारता, उनका मधुर स्वभाव, उनकी बातचीत, सब जैसे उसे खाये जा रहे थे। मन ही मन वह उनकी बन चुकी थी। अब दीनदयाल का एक और एहसान उन लोगों पर लद गया था। उन्होंने कृष्णकुमार को आश्वासन दे दिया था कि वे रामकुमार की ओर से निश्चिन्त रहें। उसे कोई कष्ट न होने पायेगा। वे उसे ले जाकर अपनी बहन के पास रक्खेंगे और वह उसकी देखभाल करेगी। सर कृष्णकुमार जब चाहें, जाकर देख सकते हैं। कृतज्ञता के भार से वह दबी हुई थी और समझ नहीं पा रही थी कि इसका प्रतिदान कैसे दे।

द्वार खुलने पर दीनदयाल को देखकर वह उठी, बोली—मास्टर साहब!

दीनदयाल—हाँ अनीता!

अनीता—मैं समझती थी, आप अब मुझसे बात भी न करेंगे। आप मुझसे घृणा करने लगे न, मास्टर साहब!

दीनदयाल—तुम जानती हो, मैं तुमसे घृणा नहीं कर सकता। खैर, बैठ जाओ। मुझे तुमसे कुछ बातें करनी हैं। मुझे हरेकृष्ण-वाली बात सुनकर प्रसन्नता हुई।

अनीता—प्रसन्नता!

दीनदयाल--हाँ। कम से कम, तुमने यह बात बतलाकर बड़ा अच्छा किया। तभी मैं आज कुछ कहने का साहस कर रहा हूँ।

अनीता—आप तो मेरी उत्सुकता बढ़ा रहे हैं! कहिए क्या बात है ?

दीनदयाल—मैं तुमको प्यार करता हूँ, अनू !

अनीता बड़े कष्ट से इतना ही कह सकी—आप!

दीनदयाल ने संकोच त्यागकर जवाब दिया—हाँ मैं। मैं चाहता था कि तुम यह जान लो। मैं तुमसे बदले में कुछ नहीं चाहता, यह भी जान लो।

अनीता—मुझे विश्वास नहीं होता। मैंने ऐसा सोचा भी न था!

दीनदयाल—ठीक है, तुम सोच भी कैसे सकती थीं! सोचो भी क्यों? मैं क्या जानता नहीं कि यह सब सुनकर तुम्हे हँसी आयेगी! मुझे अपने बारे में व्यर्थ के भ्रम नहीं हैं। मेरे लिए यही बहुत है कि मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। जब मैं जागूं तो यह सोचूं कि तुम भी कहीं जाग रही हो! हमेशा यह खयाल बना रहे कि तुम कहीं हो, सुखी हो और सन्तुष्ट हो। यही मेरे लिए बहुत है; मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

अनीता एकाएक उठी और दीनदयाल के पास पहुँचकर काँपते हुए स्वर में कहा--आपने . . आपने यह सब पहले क्यों नहीं कहा?

दीनदयाल—क्योंकि इससे मुझे कोई लाभ न दीखा। मैं मन ही मन यह सोचता था कि तुम मुझे कभी प्यार नहीं कर सकतीं।

अनीता—और अब ?

दीनदयाल--अब सब कुछ उलट-पुलट गया है। लगता है कि कभी तुम्हे मेरी ज़रूरत पड़ेगी, तभी मैं तुमसे आज कह रहा हूँ कि मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। चाहे तुम जो भी करो, जहाँ भी रहो, शायद कभी तुम्हें मेरी ज़रूरत पड़े। तुम मेरी बात जान गइ, यही बहुत है।

अनीता--आपकी ज़रूरत मुझे पड़ेगी, इसका मतलब तो यह है कि यदि मैं मूर्खता मे हरेकृष्ण से ब्याह कर लूं और बाद में वह असफल

सिद्ध हो तो मैं आपके पास निःसंकोच रूप से चली आऊँ। यही न ! इस तरह आप दो लाचारों को आश्रय देंगे—मुझे और रामकुमार को ! आप यह अच्छी तरह जानते हैं कि हरेकृष्ण के साथ मेरा व्याह असफल सिद्ध होगा, हम लोग कभी न कभी अलग हो जायँगे। उसी अवस्था के लिए तो आप संकेत कर रहे हैं ! इसी रक्षा की भावना के लिए आप यह वहाना कर रहे हैं कि आप . . . आप मुझे . . . . . प्यार करते हैं ?

दीनदयाल—तुम इसे बहाना समझ रही हो। अगर सूर्य का आसमान में रहना बहाना हो सकता है तो यह भी बहाना है !

अनीता ने दृढ़स्वर में कहा—सुनिए मास्टर साहब, मैं संकोच छोड़कर एक बात पूछना चाहती हूँ। आप मुझसे व्याह करेंगे ?

दीनदयाल—अनीता !

अनीता—बोलिए मास्टर साहब !

दीनदयाल—इससे बढ़कर प्रसन्नता मुझे दूसरी नहीं हो सकती !

उत्तेजना और प्रणयावेश में अनीता दीन-दुनिया भूल गई। उसने दीनदयाल को बाहों में भर लिया। कहा—यहीं रहो। मुझे अकेले छोड़-कर न जाओ। मुझे अपने साथ ले चलो। हम साथ-साथ ही रहेंगे। कहीं सबसे अलग रहेंगे।

दीनदयाल—अनीता !

अनीता—हाँ, चलो। पर किसी नगर में मैं नहीं रहना चाहती। नगर सबके सब समाधिस्थल हो गये हैं। हम अपने को एकदम भूल जायँगे। नया जीवन शुरू करेंगे। मैं अब एक मिनट भी तुम्हें न छोड़ूँगी। कल हम लोग साथ-साथ चलकर मा को देखेंगे।

दीनदयाल—अनीता !

अनीता—मैं अकेले नहीं रह सकती। जल्दी चलो। वायदा करो, जल्दी चलोगे।

दीनदयाल—अनू, मुझे लगता है कि मैं तुम्हें धोखा दे रहा हूँ। मैं तुमसे आयु में भी बहुत बड़ा हूँ। मेरा कुछ आगे का कार्यक्रम तय

भी नहीं है। तुम मक्त हो। तुम समझ नहीं रही हो कि तुम क्या कह रही हो!

उत्तर में अनीता न हँसकर कहा—आप सर परिवार के एक व्यक्ति से विवाह कर रहे हैं। डूबते हुए जहाज को आपने सँभाल लिया है। सर परिवार समाप्त हो चुका है, मास्टर साहब!

दीनदयाल ने गम्भीर होकर कहा—अनीता, जो चाहो, कहो, मैं तो हर तरह प्रस्तुत हूं। पर याद रक्खो, मुझसे विवाह करके तुम आत्महत्या कर रही हो।

अनीता—और मं समझती हूँ, तुमसे विवाह न होने पर मैं आत्महत्या कर लूंगी। अब, जब कि घर के अन्य लोग अपने-अपने रास्ते चल रहे हैं, उपेन्द्र, कनक, मीना सबने अपने लिए राह खोज निकाली है, तो मैं ही क्या करूं! पिता जी इस नये युग में फँसकर बिलकुल मशीन हो गये हैं—मशीन के पुर्ज़े की तरह उनका सारा काम नीरस भाव से होता है। रहा रामकुमार, सो वह आपके आश्रय में है। मा अच्छी हो जाने पर भी अपना स्वप्न नहीं छोड़ सकेंगी। अब आपने हम दो भाई-बहनों का भार अपने ऊपर लिया है! चलिए, पिता जी के पांव छू आयें और उनका आशीर्वाद लें।

—

PRINTED AND PUBLISHED BY K. MITTRA,
AT THE INDIAN PRESS, LTD.,
ALLAHABAD